वर्ष-6, अंक-7
इंटरनेट संस्करण : 118

www.garbhanal.com
MPHIN/2011/55820
सितम्बर 2016 ● मूल्य रु. 20

गर्भनाल पत्रिका

प्रवासी भारतीयों की आवाज़

मैथिलीशरण गुप्त
भारतेन्दु हरिश्चन्द्र
महावीर प्रसाद द्विवेदी

खड़ी बोली के पूर्वज...

नई चाल की हिंदी

महात्मा गाँधी अन्तरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय, वर्धा एवं गर्भनाल पत्रिका द्वारा शीघ्र प्रकाश्य सन्दर्भ ग्रन्थ

हिन्दी-सखा

विदेशी मूल के हिन्दी विद्वानों का सन्दर्भ ग्रन्थ

अब तक आयोजित विश्व हिन्दी सम्मेलनों में सम्मानित एवं अन्य

विदेशी मूल के हिन्दी-प्रेमी विद्वानों के कृतित्व, हिन्दी के लिये किये गये

उनके अवदान को सन्दर्भ ग्रन्थ के तौर पर प्रकाशित किया जा रहा है।

विदेशी मूल के अन्य हिन्दी विद्वानों की जानकारी जुटाने में सहयोग कीजिये। धन्यवाद कहिये!

जानकारी भेजने के लिये ईमेल पता है :

garbhanal@ymail.com एवं atmaram.sharma@gmail.com

गर्भनाल पत्रिका

वर्ष-6, अंक-7 (इंटरनेट संस्करण : 118)

सितम्बर 2016

सम्पादकीय सलाहकार
राजेश करमहे

परामर्श मंडल
डॉ. दिनेश श्रीवास्तव, ऑस्ट्रेलिया
अनिल जनविजय, रूस
अजय भट्ट, बैंकाक
ललित मोहन जोशी, ब्रिटेन
देवेश पंत, अमेरिका
उमेश ताम्बी, अमेरिका
बी.एन. गोयल, कनाडा
आशा मोर, ट्रिनिडाड
गंगानंद झा, भारत
डॉ. ओम विकास, भारत
डॉ. रवीन्द्र अग्निहोत्री, भारत

सम्पादक
सुषमा शर्मा

आकल्पन सहयोग
डॉ. बृजेश तिवारी, लखनऊ

तकनीकि सहयोग
डॉ. राजीव यादव, न्यूयार्क

आवरण छायाचित्र
साभार - गूगल

विज्ञापन प्रतिनिधि
गिरीश दिसावाल, इंदौर
91-9303337325

कानूनी सलाहकार
संजीव जायसवाल

सम्पर्क
डीएक्सई-23, मीनाल रेसीडेंसी,
जे.के. रोड, भोपाल-462023 (म.प्र.) भारत.
ईमेल : garbhanal@ymail.com

प्रकाशित रचनाओं के विचार लेखकों के अपने हैं, जरूरी नहीं है कि सम्पादक इससे सहमत हों। विवाद की स्थिति में केवल भोपाल न्यायालय क्षेत्र ही रहेगा।

केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा से सहयोग प्राप्त

प्रकाशक, मुद्रक एवं स्वामी सुषमा शर्मा के लिए बॉक्स कारूग्गेटर्स एण्ड ऑफसेट प्रिंटर्स, 14-बी, आई सेक्टर, औद्योगिक क्षेत्र, गोविन्दपुरा, भोपाल द्वारा मुद्रित एवं डीएक्सई-23, मीनाल रेसीडेंसी, जे.के. रोड, भोपाल से प्रकाशित।

दुखी जीवन

स्वाधीनता का मूलाधार

हिंदी वाले कैसे जगें?

इस अंक में

कृति-स्मृति :	सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला'	4
	माखनलाल चतुर्वेदी	6
	मैथिलीशरण गुप्त	7
	जयशंकर प्रसाद	8
	सुभद्रा कुमारी चौहान	9
	गजानन माधव मुक्तिबोध	10
	सच्चिदानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय'	11
	प्रेमचंद	12
	रामधारी सिंह दिनकर	16
	राजेन्द्र माथुर	18
कृति-अंश :	प्रेमचंद	20
	अमृतलाल नागर	22
	फणीश्वरनाथ रेणु	24
	निर्मल वर्मा	26
	प्रो. सुरेश ऋतुपर्ण	28
	नीलम दीक्षित	30
	डॉ. गंगा प्रसाद शर्मा 'गुणशेखर'	32
	ब्रजेन्द्र श्रीवास्तव	34
बातचीत :	राजू मिश्र	36
हमारा समय :	ध्रुव शुक्ल	38
मन की बात :	प्रो. डॉ. पुष्पिता अवस्थी	40
	डॉ. अमिता कौंडल	43
	डॉ. सुलभा कोरे	44
विमर्श :	सपना मांगलिक	46
	विनोद रिंगानिया	48
आलेख :	तिआन केपिंग	50
जन्नत की हकीकत :	रमेश जोशी	52
रम्य-रचना :	सुधा दीक्षित	56
कविता :	ललिता प्रदीप	58
शायरी की बात :	नीरज गोस्वामी	59
आपकी बात :		60

हिंदी नयी चाल में ढले...

इस बदलते विश्व में केवल अंग्रेजी को कोसने से काम नहीं चलेगा, बल्कि अपनी भाषाओं को पोसने से ही हम पूरे संसार के साथ कदम मिलाकर चल सकेंगे। हिंदी के लिये हिंदी में रुदन करना बंद होना चाहिये। रोते वे हैं जिनके पास भाषा नहीं होती, जैसे कि भाषा प्राप्त होने के पहले बच्चे रोते हैं। वे रो-रो कर ही कुछ कहना चाहते हैं, पर हिंदी तो ऐसी भाषा नहीं है।

महात्मा गांधी ने भारत के लिये राष्ट्रभाषा के लक्षण गिनाये थे। उन्होंने स्वतंत्रता के महासमर में भारत की सम्पर्क भाषा के लिये जो आह्वान किया उसके लिये उनका कहना था कि अव्वल तो उसे सरकार के कामकाज में उपयोग के लिहाज से आसान होना चाहिये। वह ऐसी भाषा हो जो धार्मिक, आर्थिक और राजनैतिक बोलचाल को सहज-सरल बनाये रख सके और ऐसी तो वह हो ही जिसे ज्यादातर लोग बोलते हों।

गांधी जी यह अनुभव कर सके थे कि अंग्रेजी के कारण ही भारत के शासक आम लोगों से दूर नजर आते हैं। गांधी जी के इन मूल्यवान विचारों के प्रकाश में हिंदी और दूसरी भारतीय भाषाओं के भविष्य पर आज़ादी के पहले और बाद में अनेक विचार सामने आते रहे हैं। सभी ज्ञानवान लोगों ने यह महसूस किया कि राष्ट्रभाषा तो ज़रूर हिंदी हो पर वह अकेली पूरे देश का भविष्य निर्धारित नहीं कर सकती। हिंदी एक ऐसी भाषा ज़रूर है जिसके साथ भारत की सभी भाषाओं का भविष्य जुड़ा है। हिंदी और सभी भारतीय भाषाएँ कभी भी अंग्रेजी की अनुचरी नहीं हो सकतीं। उन्हें तो आपस में ही सम्वाद करना होगा।

यह भरोसा किया गया कि हिंदी के राजभाषा होने का मतलब यही है कि राज्य के तंत्र में हिंदी के साथ सभी भाषाएँ एक गहन भारतीय संवाद का माध्यम बन सकें। संत कबीर की याद आती है, उन्होंने कहा है- *सब काहू का लीजिये साँचा शब्द निहार, पक्षपात न कीजिये कहे कबीर विचार।*

हम भारत के भक्तिकालीन इतिहास से भलीभाँति परिचित हैं जब संतों और फकीरों ने अपनी-अपनी बोली-बानी में बिना किसी राजाश्रय के मदद के भारतीय सांस्कृतिक एकता को स्थापित किये रखा। तो आज कोई कारण नहीं कि हम भारत के लोग अपनी बोली-बानी को भारत की अखंडता के लिये सुरक्षित बनाये रख सकें। यह सही है कि नयी सभ्यताओं के सम्पर्क में भाषाएँ बदलती रहती हैं। उनमें नये-नये शब्द भी जुड़ते रहते हैं और हमें उनका सदा स्वागत करते रहना चाहिये क्योंकि इससे हमारी भाषाओं का शब्द भंडार ही बढ़ता है। अंग्रेजी घृणा करने योग्य भाषा नहीं है। उसके माध्यम से आधुनिक ज्ञान-विज्ञान के साधन हम तक आते रहते हैं। दरअसल विरोध उस अंग्रेजियत से हमेशा रहा है जो भारत के लोगों पर शासन करने की मंशा से उन्हें उनकी बोली-बानी से दूर रखने को विवश करती है।

एक समय था जब संस्कृत में धर्म, दर्शन, विज्ञान, चिकित्सा आदि विद्याएँ एक साथ संरक्षित होती रही हैं। यह कोई पांच-छह हजार साल पुराना इतिहास है जिसमें लाखों रचनाशील मस्तिष्कों ने हजारों ग्रंथ रचे हैं। तो क्या आज यह संभव नहीं कि हम हिंदी और दूसरी भारतीय भाषाओं में आधुनिक विज्ञान, चिकित्सा और आर्थिकी का नया विचार प्रकट कर सकें। निश्चय ही यह संभव है और इसके कुछ उपाय होते ही रहते हैं पर जापान और चीन जैसे देशों की तरह अभी वह बात बनना बाकी है जब भारतवर्ष हिंदी सहित दूसरी भारतीय भाषाओं में बहुत ही सहजता के साथ अंग्रेजी के प्रति पराधीन हुए बिना बातचीत कर सकेगा।

हिंदी समेत कोई भी भाषा अपनी स्थानीय बोली-बानी से ही आकार लेती रही है। खुद हिंदी ने अनेक बोलियों जैसे भोजपुरी, राजस्थानी, बुंदेली, अवधी, मैथिली आदि से अपने

पाँव पर खड़ा होना सीखा है। इसीलिये यह बहस अक्सर अनावश्यक लगती है कि बोलियों को आगे ले आया जाये, बल्कि यह कहना अधिक सच होगा कि बोलियां हिंदी की माँ हैं। उन्हें बचाकर रखना होगा। उनके शब्द हिंदी में बोलने होंगे जिससे कि दोनों हमेशा की लिये बची रहें।

आमतौर पर यह धारणा बनायी जाती है कि अंग्रेजी और यूरोप से आई तकनीक हमें बरबाद किये दे रही है पर सचमुच ऐसा नहीं है। आज बाजारवाद के समय में तकनीक ने और अंग्रेजी ने भी संसार के मानवों को एक-दूसरे के बहुत करीब ला दिया है और अब तो हिंदी और दूसरी भारतीय भाषाओं में ऐसे साफ्टवेयर तैयार कर लिये गये हैं जिन्होंने सम्वाद की सीमाओं को पाट दिया है। फेसबुक, वाट्सएप और एसएमएस पर जो संक्षिप्तीकरण की भाषा आकार ले रही है उसने भी सम्वाद को कम समय में और बहुत लम्बी दूरियों तक मनुष्य के लिये सुगम बनाने में एक भूमिका बनानी शुरू कर दी है।

तकनीक बुरी नहीं है, उसका दुरुपयोग बुरा है। यह सहज ही सम्भव है कि प्रत्येक देश अपनी संस्कृति और समाज के अनुरूप तकनीक का अत्यंत उपयोगी इस्तेमाल करके अपनी लिये नयी राहें खोज सकता है। अब इस बदलते विश्व में केवल अंग्रेजी को कोसने से काम नहीं चलेगा, बल्कि अपनी भाषाओं को पोसने से ही हम पूरे संसार के साथ कदम मिलाकर चल सकेंगे। हिंदी के लिये हिंदी में रुदन करना बंद होना चाहिये। भारत और उसके आसपास के छोटे देशों में अक्सर होने वाले

> आज बाजारवाद के समय में तकनीक ने और अंग्रेजी ने भी संसार के मानवों को एक-दूसरे के बहुत करीब ला दिया है और अब तो हिंदी और दूसरी भारतीय भाषाओं में ऐसे साफ्टवेयर तैयार कर लिये गये हैं जिन्होंने सम्वाद की सीमाओं को पाट दिया है।

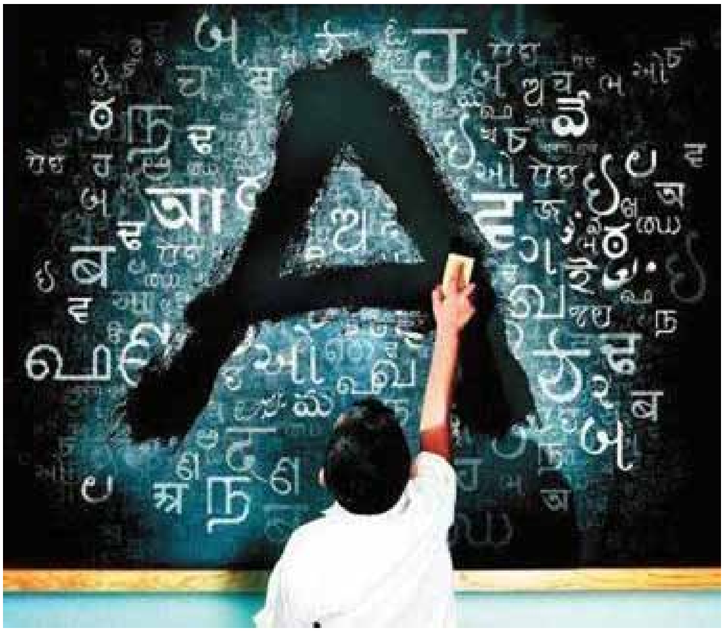

हिंदी सम्मेलन इस रुदन की गवाही देते हैं। रोते वे हैं जिनके पास भाषा नहीं होती, जैसे कि भाषा प्राप्त होने के पहले बच्चे रोते हैं। वे रो-रो कर ही कुछ कहना चाहते हैं, पर हिंदी तो ऐसी भाषा नहीं है। अगर आधुनिक खड़ी बोली के एक सौ तीस साल के बीते समय पर ही गौर करें तो भारतेंदु से लेकर महावीर प्रसाद द्विवेदी, मैथिली शरण गुप्त, निराला, पंत, प्रसाद, महादेवी, अज्ञेय, मुक्तिबोध, नरेश मेहता, शमशेर बहादुर और भवानी प्रसाद जैसे कवियों ने हिंदी कविता को और प्रेमचंद से लेकर फणीश्वरनाथ रेणु, अज्ञेय, भीष्म साहनी, कृष्णा सोबती, धर्मवीर भारती, यशपाल और निर्मल वर्मा आदि जैसे अनेक लेखकों ने कथा को भी समृद्ध बनाया है। चिंतन और आलोचना की दुनिया में रामचंद्र शुक्ल से लेकर रमेशचंद्र शाह तक हिंदी में आलोचना की एक पूरी विकसित परम्परा है। निबंध, यात्रा-वृत्तांत, डायरी आदि विधाओं में भी हिंदी के प्राचीन और नये लेखकों ने लेखन के नये मार्गों का सृजन किया है। फिर इतना सब होते हुए हिंदी में रोने की गुंजाइश तो कहीं बनती ही नहीं है।

यह अंक हिंदी के नये चाल में ढलने की आकांक्षा से संयोजित किया गया है। इसमें हिंदी की कुछ उल्लेखनीय कृतियों, कुछ मूल्यवान विचारों और कुछ स्मृतियों को संजोया गया है इसके अलावा अन्य स्थायी स्तम्भ तो रहेंगे ही।■

सूर्यकांत त्रिपाठी ‘निराला’

वसंत पंचमी, १८९६, मेदिनीपुर, पश्चिम बंगाल में जन्म। मुख्य कृतियाँ : उपन्यास : अप्सरा, अलका, प्रभावती, निरुपमा, कुल्ली भाट, बिल्लेसुर बकरिहा। कविता संग्रह : अनामिका,परिमल, गीतिका, द्वितीय अनामिका, तुलसीदास, कुकुरमुत्ता, अणिमा, बेला, नये पत्ते, अर्चना, आराधना, गीत कुंज, सांध्य काकली, अपरा। कहानी संग्रह : लिली, चतुरी चमार, सुकुल की बीवी, सखी, देवी। निबंध : रवीन्द्र कविता कानन, प्रबंध पद्म, प्रबंध प्रतिमा, चाबुक, चयन, संग्रह। पुराण कथा : महाभारत। अनुवाद : आनंद मठ, विष वृक्ष, कृष्णकांत का वसीयतनामा, कपालकुंडला, दुर्गेश नन्दिनी, राज सिंह, राजरानी, राजयोग (बांग्ला से हिन्दी)। अवसान - १५ अक्टूबर १०६१।

कृति-स्मृति

राम की शक्ति पूजा

(कुछ चुने हुए अंश)

है अमानिशा, उगलता गगन घन अन्धकार
खो रहा दिशा का ज्ञान, स्तब्ध है पवन-चार
अप्रतिहत गरज रहा पीछे अम्बुधि विशाल
भूधर ज्यों ध्यानमग्न, केवल जलती मशाल।

स्थिर राघवेन्द्र को हिला रहा फिर-फिर संशय
रह-रह उठता जग जीवन में रावण-जय-भय
जो नहीं हुआ आज तक हृदय रिपु-दम्य-श्रान्त
एक भी, अयुत-लक्ष में रहा जो दुराक्रान्त
कल लड़ने को हो रहा विकल वह बार-बार
असमर्थ मानता मन उद्यत हो हार-हार।

ऐसे क्षण अन्धकार घन में जैसे विद्युत
जागी पृथ्वी तनया कुमारिका छवि अच्युत
देखते हुए निष्पलक, याद आया उपवन
विदेह का, प्रथम स्नेह का लतान्तराल मिलन
नयनों का-नयनों से गोपन-प्रिय सम्भाषण
पलकों का नव पलकों पर प्रथमोत्थान-पतन
काँपते हुए किसलय, झरते पराग-समुदय
गाते खग-नव-जीवन-परिचय-तरू मलय-वलय
ज्योतिःप्रपात स्वर्गीय,-ज्ञात छवि प्रथम स्वीय
जानकी-नयन-कमनीय प्रथम कम्पन तुरीय।

सिहरा तन, क्षण-भर भूला मन, लहरा समस्त
हर धनुर्भंग को पुनर्वार ज्यों उठा हस्त
फूटी स्मिति सीता ध्यान-लीन राम के अधर
फिर विश्व-विजय-भावना हृदय में आयी भर
वे आये याद दिव्य शर अगणित मन्त्रपूत
फड़का पर नभ को उड़े सकल ज्यों देवदूत
देखते राम, जल रहे शलभ ज्यों रजनीचर
ताड़का, सुबाहु, बिराध, शिरस्त्रय, दूषण, खर
फिर देखी भीम मूर्ति आज रण देखी जो
आच्छादित किये हुए सम्मुख समग्र नभ को
ज्योतिर्मय अस्त्र सकल बुझ बुझ कर हुए क्षीण
पा महानिलय उस तन में क्षण में हुए लीन
लख शंकाकुल हो गये अतुल बल शेष शयन
खिंच गये दृगों में सीता के राममय नयन
फिर सुना हँस रहा अट्टहास रावण खलखल
भावित नयनों से सजल गिरे दो मुक्तादल।

बैठे मारुति देखते राम-चरणारविन्द-
युग अस्ति-नास्ति के एक रूप, गुण-गण-अनिन्द्य;
साधना-मध्य भी साम्य-वाम-कर दक्षिणपद,
दक्षिण-कर-तल पर वाम चरण, कपिवर गद्-गद्
पा सत्य सच्चिदानन्द रूप, विश्राम धाम,
जपते सभक्ति अजपा विभक्त हो राम नाम।

युग चरणों पर आ पड़े अस्तु वे अश्रु युगल
देखा कपि ने, चमके नभ में ज्यों तारादल
ये नहीं चरण राम के, बने श्यामा के शुभ-
सोहते मध्य में हीरक युग या दो कौस्तुभ;
टूटा वह तार ध्यान का, स्थिर मन हुआ विकल
सन्दिग्ध भाव की उठी दृष्टि, देखा अविकल
बैठे वे वहीं कमल-लोचन, पर सजल नयन,
व्याकुल-व्याकुल कुछ चिर-प्रफुल्ल मुख निश्चेतन।

निशि हुई विगतः नभ के ललाट पर प्रथम किरण
फूटी रघुनन्दन के दृग महिमा ज्योति हिरण।

हैं नहीं शरासन आज हस्त तूणीर स्कन्ध
वह नहीं सोहता निविड़-जटा-दृढ़-मुकुट-बन्ध
सुन पड़ता सिंहनाद,-रण कोलाहल अपार
उमड़ता नहीं मन, स्तब्ध सुधी हैं ध्यान धार
पूजोपरान्त जपते दुर्गा, दशभुजा नाम
मन करते हुए मनन नामों के गुणग्राम
बीता वह दिवस, हुआ मन स्थिर इष्ट के चरण
गहन-से-गहनतर होने लगा समाराधन।

क्रम-क्रम से हुए पार राघव के पंच दिवस
चक्र से चक्र मन बढ़ता गया ऊर्ध्व निरलस
कर-जप पूरा कर एक चढाते इन्दीवर
निज पुरश्चरण इस भाँति रहे हैं पूरा कर।

चढ़ षष्ठ दिवस आज्ञा पर हुआ समाहित-मन
प्रतिजप से खिंच-खिंच होने लगा महाकर्षण
संचित त्रिकुटी पर ध्यान द्विदल देवी-पद पर
जप के स्वर लगा काँपने थर-थर-थर अम्बर।

दो दिन निःस्पन्द एक आसन पर रहे राम,
अर्पित करते इन्दीवर जपते हुए नाम।

आठवाँ दिवस मन ध्यान-युक्त चढ़ता ऊपर
कर गया अतिक्रम ब्रह्मा-हरि-शंकर का स्तर
हो गया विजित ब्रह्माण्ड पूर्ण, देवता स्तब्ध
हो गये दग्ध जीवन के तप के समारब्ध
रह गया एक इन्दीवर, मन देखता पार
प्रायः करने हुआ दुर्ग जो सहस्रार
द्विप्रहर, रात्रि, साकार हुई दुर्गा छिपकर
हँस उठा ले गई पूजा का प्रिय इन्दीवर।
यह अन्तिम जप, ध्यान में देखते चरण युगल
राम ने बढ़ाया कर लेने को नीलकमल।
कुछ लगा न हाथ, हुआ सहसा स्थिर मन चंचल
ध्यान की भूमि से उतरे, खोले पलक विमल।
देखा, वह रिक्त स्थान, यह जप का पूर्ण समय
आसन छोड़ना असिद्धि, भर गये नयनद्वय
द्विधिक् जीवन को जो पाता ही आया विरोध
धिक् साधन जिसके लिए सदा ही किया शोध
जानकी! हाय उद्धार प्रिया का हो न सका
वह एक और मन रहा राम का जो न थका
जो नहीं जानता दैन्य, नहीं जानता विनय
कर गया भेद वह मायावरण प्राप्त कर जय
बुद्धि के दुर्ग पहुँचा विद्युतगति हतचेतन
राम में जगी स्मृति हुए सजग पा भाव प्रमन।
यह है उपाय, कह उठे राम ज्यों मन्द्रित घन-
कहती थीं माता मुझे सदा राजीवनयन।
दो नील कमल हैं शेष अभी, यह पुरश्चरण
पूरा करता हूँ देकर मातः एक नयन।
कहकर देखा तूणीर ब्रह्मशर रहा झलक
ले लिया हस्त, लक-लक करता वह महाफलक।
ले अस्त्र वाम पर, दक्षिण कर दक्षिण लोचन
ले अर्पित करने को उद्यत हो गये सुमन
जिस क्षण बँध गया बेधने को दृग दृढ़ निश्चय
काँपा ब्रह्माण्ड, हुआ देवी का त्वरित उदय-
साधु, साधु, साधक धीर, धर्म-धन धन्य राम!
कह, लिया भगवती ने राघव का हस्त थाम।
देखा राम ने, सामने श्री दुर्गा, भास्वर
वामपद असुर-स्कन्ध पर, रहा दक्षिण हरि पर।
ज्योतिर्मय रूप, हस्त दश विविध अस्त्र सज्जित
मन्द स्मित मुख, लख हुई विश्व की श्री लज्जित।
हैं दक्षिण में लक्ष्मी, सरस्वती वाम भाग
दक्षिण गणेश, कार्तिक बायें रणरंग राग
मस्तक पर शंकर! पदपद्मों पर श्रद्धाभर
श्री राघव हुए प्रणत मन्द स्वर वन्दन कर।
होगी जय, होगी जय, हे पुरूषोत्तम नवीन।।
कह महाशक्ति राम के वदन में हुई लीन।■

माखनलाल चतुर्वेदी

(४ अप्रैल १८८९ से ३० जनवरी १९६८)

कवि लेखक और पत्रकार। सरल भाषा और ओजपूर्ण भावनाओं के अनूठे हिंदी रचनाकार। प्रभा और कर्मवीर पत्रों के संपादक के रूप में उन्होंने ब्रिटिश शासन के खिलाफ़ ज़ोरदार प्रचार किया। अनेक बार ब्रिटिश साम्राज्य का कोपभाजन बने। १९२१-२२ के असहयोग आंदोलन में सक्रिय रूप से भाग लेते हुए जेल गए। हिमकिरीटिनी, हिमतरंगिणी, युग चरण, समर्पण, मरण ज्वार, माता, वेणु लो गूँजे धरा काव्य कृतियाँ हैं। कृष्णार्जुन युद्ध, साहित्य के देवता, समय के पाँव, अमीर इरादे : गरीब इरादे गद्यात्मक कृतियाँ हैं। काव्य संग्रह 'हिमतरंगिणी' के लिए १९५५ में हिन्दी के 'साहित्य अकादमी पुरस्कार' से सम्मानित किया गया।

कृति-स्मृति

निःशस्त्र सेनानी

सुजन, ये कौन खड़े हैं? बन्धु! नाम ही है इनका बेनाम।
कौन करते है ये काम? काम ही है बस इनका काम।

बहन-भाई, हां कल ही सुना, अहिंसा आत्मिक बल का नाम
पिता! सुनते है श्री विश्वेश, जननि? श्री प्रकृति सुकृति सुखधाम।

हिलोरें लेता भीषण सिन्धु पोत पर नाविक है तैयार
घूमती जाती है पतवार, काटती जाती पारावार।

पुत्र-पुत्री है? जीवित जोश और सब कुछ सहने की शक्ति
सिद्धि-पद-पद्मों मे स्वातन्त्र्य-सुधा-धारा बहने की शक्ति।

हानि? यह गिनो हानि या लाभ, नहीं भाती कहने की शक्ति
प्राप्ति? जगतीतल की अमरत्व, खड़े जीवित रहने की शक्ति।

विश्व चक्कर खाता है और सूर्य करने जाता विश्राम
मचाता भावों का भू-कम्प, उठाता बांहें, करता काम।

देह? प्रिय यहाँ कहाँ परवाह टँगे शूली पर चर्मक्षेत्र
गेह? छोटा-सा हो तो कहूँ विश्व का प्यारा धर्मक्षेत्र!

शोक? वह दुखियों की आवाज़ कँपा देती है मर्मक्षेत्र
हर्ष भी पाते है ये कभी? तभी जब पाते कर्मक्षेत्र।

फिसलते काल-करों से शस्त्र, कराली कर लेती मुँह बन्द
पधारे ये प्यारे पद-पद्म, सलोनी वायु हुई स्वच्छंद।

क्लेश? वह निष्कर्मों का साथ कभी पहुँचा देता है क्लेश
लेश भी कभी न की परवाह जानते इसे स्वयम् सर्वेश।

देश? यह प्रियतम भारत देश, सदा पशु-बल से जो बेहाल,
वेश? यदि वृन्दावन में रहे कहाँ जावे प्यारा गोपाल।

द्रौपदी भारत माँ का चीर, बढ़ाने दौड़े यह महाराज
मान लें, तो पहनाने लगूँ, मोर-पंखों का प्यारा ताज।

उधर वे दुःशासन के बन्धु, युद्ध-भिक्षा की झोली हाथ
इधर ये धर्म-बन्धु, नय-बन्धु, शस्त्र लो, कहते है- दो साथ।

लपकती है लाखों तलवार, मचा डालेंगी हाहाकार
मारने-मरने की मनुहार, खड़े है बलि-पशु सब तैयार।

किन्तु क्या कहता है आकाश? हृदय! हुलसो सुन यह गुंजार
पलट जाये चाहे संसार, न लूंगा इन हाथों हथियार।।

जाति? वह मजदूरों की जाति, मार्ग? यह काँटों वाला सत्य
रंग? श्रम करते जो रह जाय, देख लो दुनिया भर के भृत्य।

कला? दुखियों की सुनकर तान, नृत्य का रंग-स्थल हो धूल
टेक? अन्यायों का प्रतिकार, चढ़ाकर अपना जीवन-फूल।

क्रान्तिकर होंगे इनके भाव? विश्व में इसे जानता कौन?
कौन-सी कठिनाई है? यहीं, बोलते है ये भाषा मौन!

प्यार? उन हथकड़ियों से और कृष्ण के जन्म-स्थल से प्यार!
हार? कन्धों पर चुभती हुई अनोखी जंजीरें है हार!

भार? कुछ नहीं रहा अब शेष, अखिल जगतीतल का उद्धार!
द्वार? उस बड़े भवन का द्वार, विश्व की परम मुक्ति का द्वार!

पूज्यतम कर्म-भूमि स्वच्छंद, मची है डट पड़ने की धूम
दहलता नभ मंडल ब्रह्माण्ड, मुक्ति के फट पड़ने की धूम!

(१९१३, हिमतरंगिणी)

(महात्मा गाँधी के दक्षिण अफ्रीका संग्राम पर)

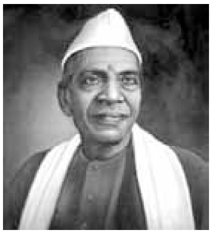

मैथिलीशरण गुप्त
जन्म : ३ अगस्त १८८६, चिरगाँव, झाँसी (उत्तर प्रदेश) निधन : १२ दिसंबर १९६४
ब्रजभाषा, संस्कृत, हिन्दी में सृजन किया। मुख्य कृतियाँ- पंचवटी, साकेत, जयद्रथ वध, यशोधरा, द्वापर, झंकार, जयभारत। पद्मभूषण अलंकार, हिन्दुस्तानी अकादमी पुरस्कार, मंगला प्रसाद पारितोषिक, साहित्य वाचस्पति एवं डी.लिट्. की उपाधि से सम्मानित।

सखि वे मुझसे कह कर जाते

सखि, वे मुझसे कहकर जाते,
कह, तो क्या मुझको वे अपनी
पथ-बाधा ही पाते?
मुझको बहुत उन्होंने माना
फिर भी क्या पूरा पहचाना?
मैंने मुख्य उसी को जाना
जो वे मन में लाते।
सखि, वे मुझसे कहकर जाते।

स्वयं सुसज्जित करके क्षण में
प्रियतम को, प्राणों के पण में
हमीं भेज देती हैं रण में
क्षात्र-धर्म के नाते।
सखि, वे मुझसे कहकर जाते।

हुआ न यह भी भाग्य अभागा
किस पर विफल गर्व अब जागा?
जिसने अपनाया था, त्यागा
रहे स्मरण ही आते!
सखि, वे मुझसे कहकर जाते।

नयन उन्हें हैं निष्ठुर कहते
पर इनसे जो आँसू बहते
सदय हृदय वे कैसे सहते?
गये तरस ही खाते!
सखि, वे मुझसे कहकर जाते।

जायें, सिद्धि पावें वे सुख से
दुखी न हों इस जन के दुख से
उपालम्भ दूँ मैं किस मुख से?
आज अधिक वे भाते!
सखि, वे मुझसे कहकर जाते।

गये, लौट भी वे आवेंगे
कुछ अपूर्व-अनुपम लावेंगे
रोते प्राण उन्हें पावेंगे
पर क्या गाते-गाते?
सखि, वे मुझसे कहकर जाते।■

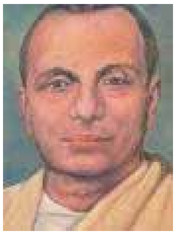

जयशंकर प्रसाद

जन्म : ३० जनवरी १८८९, वाराणसी - निधन : १४ जनवरी १९३७

मुख्य कृतियाँ - काव्य : झरना, आँसू, लहर, कामायनी, प्रेम पथिक। नाटक : स्कंदगुप्त, चंद्रगुप्त, ध्रुवस्वामिनी, जन्मेजय का नाग यज्ञ, राज्यश्री, अजातशत्रु, विशाख, एक घूँट, कामना, करुणालय, कल्याणी परिणय, अग्निमित्र, प्रायश्चित, सज्जन। कहानी संग्रह : छाया, प्रतिध्वनि, आकाशदीप, आँधी, इंद्रजाल। उपन्यास : कंकाल, तितली, इरावती।

कृति-स्मृति

कामायनी

(कुछ चुने हुए अंश)

लज्जा

कोमल किसलय के अंचल में
नन्हीं कलिका ज्यों छिपती-सी
गोधूली के धूमिल पट में
दीपक के स्वर में दिपती-सी।

मंजुल स्वप्नों की विस्मृति में
मन का उन्माद निखरता ज्यों-
सुरभित लहरों की छाया में
बुल्ले का विभव बिखरता ज्यों-
वैसी ही माया में लिपटी
अधरों पर उँगली धरे हुए
माधव के सरस कुतूहल का
आँखों में पानी भरे हुए।

नीरव निशीथ में लतिका-सी
तुम कौन आ रही हो बढ़ती?
कोमल बाँहे फैलाये-सी
आलिंगन का जादू पढ़ती?
किन इंद्रजाल के फूलों से
लेकर सुहाग-कण-राग-भरे
सिर नीचा कर हो गूँथ माला
जिससे मधु धार ढरे?
पुलकित कदंब की माला-सी
पहना देती हो अंतर में,
झुक जाती है मन की डाली
अपनी फल भरता के डर में।

वरदान सदृश हो डाल रही
नीली किरणों से बुना हुआ
यह अंचल कितना हलका-सा
कितना सौरभ से सना हुआ।

सब अंग मोम से बनते हैं
कोमलता में बल खाती हूँ
मैं सिमिट रही-सी अपने में
परिहास-गीत सुन पाती हूँ।

स्मित बन जाती है तरल हँसी
नयनों में भरकर बाँकपना
प्रत्यक्ष देखती हूँ सब जो
वह बनता जाता है सपना।

मेरे सपनों में कलरव का संसार
आँख जब खोल रहा
अनुराग समीरों पर तिरता था
इतराता-सा डोल रहा।

अभिलाषा अपने यौवन में
उठती उस सुख के स्वागत को
जीवन भर के बल-वैभव से
सत्कृत करती दूरागत को।

किरणों का रज्जु समेट लिया
जिसका अवलंबन ले चढ़ती
रस के निर्झर में धँस कर मैं
आनन्द-शिखर के प्रति बढ़ती। ■

सुभद्रा कुमारी चौहान
जन्म : १६ अगस्त १९०४, निहालपुर, इलाहाबाद - निधन

कविताएँ : अनोखा दान, आराधना, इसका रोना, उपेक्षा, उल्लास, कलह-कारण, कोयल, खिलौनेवाला, चलते समय, चिंता, जीवन-फूल, झाँसी की रानी की समाधि पर, झांसी की रानी, झिलमिल तारे, ठुकरा दो या प्यार करो, तुम, नीम, परिचय, पानी और धूप, पूछो, प्रतीक्षा, प्रथम दर्शन, प्रभु तुम मेरे मन की जानो, प्रियतम से, फूल के प्रति, बिदाई, भ्रम, मधुमय प्याली, मुरझाया फूल, मेरा गीत, मेरा जीवन, मेरा नया बचपन, मेरी टेक, मेरे पथिक, यह कदम्ब का पेड़-२, यह कदम्ब का पेड़, विजयी मयूर, विदा, वीरों का हो कैसा वसन्त, वेदना, व्याकुल चाह, समर्पण, साध, स्वदेश प्रति, जलियाँवाला बाग में बसंत।

वीरों का कैसा हो बसंत

आ रही हिमालय से पुकार
है उदधि गरजता बार-बार
प्राची पश्चिम भू नभ अपार
सब पूछ रहे हैं दिग-दिगन्त-
वीरों का कैसा हो बसन्त।।

फूली सरसों ने दिया रंग
मधु लेकर आ पहुँचा अनंग
वधु वसुधा पुलकित अंग-अंग
है वीर देश में किन्तु कन्त-
वीरों का कैसा हो बसन्त।।

भर रही कोकिला इधर तान
मारू बाजे पर उधर गान
है रंग और रण का विधान
मिलने को आए हैं आदि अन्त-
वीरों का कैसा हो बसन्त।।

गलबांहें हों या हो कृपाण
चलचितवन हो या धनुषबाण
हो रसविलास या दलितत्राण
अब यही समस्या है दुरन्त-
वीरों का कैसा हो बसन्त।।

कह दे अतीत अब मौन त्याग
लंके तुझमें क्यों लगी आग
ऐ कुरुक्षेत्र अब जाग जाग
बतला अपने अनुभव अनन्त-
वीरों का कैसा हो बसन्त।।

हल्दीघाटी के शिला खण्ड
ऐ दुर्ग सिंहगढ़ के प्रचण्ड
राणा ताना का कर घमण्ड
दो जगा आज स्मृतियाँ ज्वलन्त-
वीरों का कैसा हो बसन्त।।

भूषण अथवा कवि चन्द नहीं
बिजली भर दे वह छन्द नहीं
है कलम बंधी स्वच्छन्द नहीं
फिर हमें बताए कौन हन्त-
वीरों का कैसा हो बसन्त।■

गजानन माधव मुक्तिबोध

श्योपुर, ग्वालियर में १९१७ को जन्म। नागपुर विवि से हिंदी में एम.ए.। २० वर्ष की उम्र में आजीविका की शुरूआत बड़नगर मिडिल स्कूल में मास्टरी से आरंभ करके उज्जैन, शुजालपुर, इंदौर, कलकत्ता, बंबई, बंगलौर, बनारस, जबलपुर, नागपुर में थोड़े-थोड़े अरसे रहे। प्रकाशित कृतियाँ : चाँद का मुँह चेढ़ा है, एक साहित्यिक की डायरी, काठ का सपना, विपात्र और सतह से उठता आदमी।

कृति-स्मृति

ब्रह्मराक्षस

(कुछ चुने हुए अंश)

शहर के उस ओर खँडहर की तरफ़
परित्यक्त सूनी बावड़ी
के भीतरी
ठण्डे अँधेरे में
बसी गहराइयाँ जल की
सीढ़ियाँ डूबी अनेकों
उस पुराने घिरे पानी में
समझ में आ न सकता हो
कि जैसे बात का आधार
लेकिन बात गहरी हो। बावड़ी को घेर
डालें खूब उलझी हैं,
खड़े हैं मौन औदुम्बर।
व शाखों पर
लटकते घुग्घुओं के घोंसले परित्यक्त भूरे गोल।
विद्युत शत पुण्यों का आभास
जंगली हरी कच्ची गंध में बसकर
हवा में तैर
बनता है गहन संदेह
अनजानी किसी बीती हुई उस श्रेष्ठता का जो कि
दिल में एक खटके सी लगी रहती।
बावड़ी की इन मुँडेरों पर
मनोहर हरी कुहनी टेक
बैठी है टगर
ले पुष्प तारे-श्वेत
उसके पास
लाल फूलों का लहकता झौंर
मेरी वह कन्हेर
वह बुलाती एक खतरे की तरफ जिस ओर
अँधियारा खुला मुँह बावड़ी का
शून्य अम्बर ताकता है।

बावड़ी की उन गहराइयों में शून्य
ब्रह्मराक्षस एक पैठा है,
व भीतर से उमड़ती गूँज की भी गूँज,
हड़बड़ाहट शब्द पागल से।
गहन अनुमानिता
तन की मलिनता
दूर करने के लिए प्रतिपल
पाप छाया दूर करने के लिए, दिन-रात
स्वच्छ करने
ब्रह्मराक्षस
घिस रहा है देह
हाथ के पंजे बराबर,
बाँह-छाती-मुँह छपाछप
खूब करते साफ़,
फिर भी मैल!!
और होठों से
अनोखा स्तोत्र कोई क्रुद्ध मंत्रोच्चार,
अथवा शुद्ध संस्कृत गालियों का ज्वार,
मस्तक की लकीरें
बुन रहीं
आलोचनाओं के चमकते तार!!
उस अखण्ड स्नान का पागल प्रवाह
प्राण में संवेदना है स्याह!!
किन्तु, गहरी बावड़ी
की भीतरी दीवार पर
तिरछी गिरी रवि-रश्मि
के उड़ते हुए परमाणु, जब
तल तक पहुँचते हैं कभी
तब ब्रह्मराक्षस समझता है, सूर्य ने
झुककर नमस्ते कर दिया। ■

सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय'

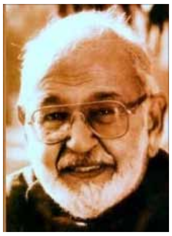

जन्म : ७ मार्च १९११, कुशीनगर - निधन : ४ अप्रैल १९८७। मुख्य कृतियाँ - कविता : भग्नदूत, चिंता, इत्यलम्, हरी घास पर क्षण भर, बावरा अहेरी, इंद्रधनु रौंदे हुए ये, अरी ओ करुणा प्रभामय, आँगन के पार द्वार, पूर्वा, सुनहले शैवाल, कितनी नावों में कितनी बार, क्योंकि मैं उसे जानता हूँ, सागर-मुद्रा, पहले मैं सन्नाटा बुनता हूँ, महावृक्ष के नीचे, नदी की बाँक पर छाया, ऐसा कोई घर आपने देखा है (हिंदी) प्रिज़न डेज़ एंड अदर पोयम्स। उपन्यास : शेखर : एक जीवनी, नदी के द्वीप, अपने अपने अजनबी, बीनू भगत। कहानी संग्रह : विपथगा, परंपरा, कोठरी की बात, शरणार्थी, जयदोल, ये तेरे प्रतिरूप। यात्रा वृत्तांत : अरे यायावर रहेगा याद, एक बूँद सहसा उछली। निबंध : सबरंग, त्रिशंकु, आत्मपरक, आधुनिक साहित्य : एक आधुनिक परिदृश्य, आलवाल, संवत्सर। संस्मरण : स्मृति लेखा। डायरी : भवंती, अंतरा, शाश्वती। नाटक : उत्तरप्रियदर्शी। अनुवाद : गोरा। संपादन : तार सप्तक, पुष्करिणी, रूपांबरा, सैनिक, विशाल भारत, प्रतीक, दिनमान, नवभारत टाइम्स, वाक्, एवरीमैंस (अंग्रेजी)। सम्मान : साहित्य अकादमी, ज्ञानपीठ।

नदी के द्वीप

हम नदी के द्वीप हैं।
हम नहीं कहते कि हमको छोड़ कर स्रोतस्विन बह जाय।
वह हमें आकार देती है।
हमारे कोण, गलियां, अन्तरीप, उभार, सैकत-कूल,
सब गोलाइयां उसकी गढ़ी हैं।

मां है वह। है, इसी से हम बने हैं।

किन्तु हम हैं द्वीप। हम धारा नहीं हैं।
स्थिर समर्पण है हमारा। हम सदा से द्वीप हैं स्रोतस्विनी के
किन्तु हम बहते नहीं हैं। क्योंकि बहना रेत होना है।
हम बहेंगे तो रहेंगे ही नहीं।
पैर उखड़ेंगे। प्लवन होगा। ढहेंगे। सहेंगे। बह जायेंगे।

और फ़िर हम चूर्ण हो कर भी कभी क्या धार बन सकते?
रेत बनकर हम सलिल को तनिक गंदला ही करेंगे-
अनुपयोगी ही बनायेंगे।

द्वीप हैं हम। यह नहीं है शाप। यह अपनी नियति है।
हम नदी के पुत्र हैं। बैठे नदी के क्रोड में।
वह वृहद् भूखण्ड से हम को मिलाती है।
और वह भूखण्ड अपना पितर है।

नदी, तुम बहती चलो।

भूखण्ड से जो दाय हमको मिला है, मिलता रहा है,
मांजती, संस्कार देती चलो। यदि ऐसा कभी हो
तुम्हारे आह्लाद से या दूसरों के किसी स्वैराचार से, अतिचार,
तुम बढ़ो, प्लावन तुम्हारा घरघराता उठे -
यह स्रोतस्विनी ही कर्मनाशा कीर्तिनाशा घोर काल-प्रवाहिनी बन जाय-
तो हमें स्वीकार है वह भी। उसी में रेत होकर
फ़िर छनेंगे हम। जमेंगे हम। कहीं फ़िर पैर टेकेंगे।
कहीं भी खड़ा होगा नये व्यक्तित्व का आकार।
मातः, उसे फ़िर संस्कार तुम देना।
■

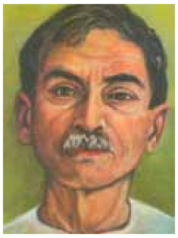

प्रेमचंद

जन्म : ३१ जुलाई १८८०, लमही, वाराणसी - निधन : ८ अक्टूबर १९३६

उपन्यास : गोदान, गबन, सेवा सदन, प्रतिज्ञा, प्रेमाश्रम, निर्मला, प्रेमा, कायाकल्प, रंगभूमि, कर्मभूमि, मनोरमा, वरदान, मंगलसूत्र (असमाप्त)। कहानी : सोज़े वतन, मानसरोवर (आठ खंड), प्रेमचंद की असंकलित कहानियाँ, प्रेमचंद की शेष रचनाएँ। नाटक : कर्बला, वरदान। बाल साहित्य : रामकथा, कुत्ते की कहानी। विचार : प्रेमचंद : विविध प्रसंग, प्रेमचंद के विचार (तीन खंडों में)। अनुवाद : आजाद-कथा (उर्दू से, रतननाथ सरशार), पिता के पत्र पुत्री के नाम (अंग्रेजी से, जवाहरलाल नेहरू)। संपादन : मर्यादा, माधुरी, हंस, जागरण।

कृति-स्मृति

दुखी जीवन

दुख का एक बड़ा कारण है अपने-ही-आप में डूबे रहना, हमेशा अपने ही विषय में सोचते रहना। हम यों करते तो यों होते, वकालत पास करके अपनी मिट्टी खराब की, इससे कहीं अच्छा होता कि नौकरी कर ली होती। अगर नौकर हैं तो यह पछतावा है कि वकालत क्यों न कर ली। लड़के नहीं हैं तो यह फिक्र मारे डालती है कि लड़के कब होंगे।

हिंदू दर्शन दुःखवाद है, बौद्ध दर्शन दुःखवाद है और ईसाई दर्शन भी दुःखवाद है! मनुष्य सुख की खोज में आदिकाल से रहा है और इसी की प्राप्ति उसके जीवन का सदैव मुख्य उद्देश्य रही है। दुख से वह इतना घबराता है कि इस जीवन में ही नहीं, आने वाले जीवन के लिये भी ऐसी व्यवस्था करना चाहता है कि वहाँ भी सुख का उपभोग कर सके। जन्नत और स्वर्ग, मोक्ष और निर्वाण, सब उसी आकांक्षा की रचनाएँ हैं। सुख की प्राप्ति के लिये ही हमने जीवन को निस्सार और संसार को अनित्य कहकर अपने मन को शांत करने की चेष्टा की। जब जीवन में कोई सार ही नहीं, और संसार अनित्य ही है, तो फिर क्यों न इनसे मुँह मोड़कर बैठें? लेकिन हम क्यों दुखी होते हैं, वह कौन-सी मनोवृत्ति है जो हमें दुख की ओर ले जाती है, इस पर हमने विचार नहीं किया। आज हम इसी प्रश्न की मीमांसा करेंगे और देखेंगे कि इस अंधकार में कहीं प्रकाश भी मिल सकता है या नहीं।

दुख के दो बड़े कारण हैं- एक तो वे रूढ़ियां जिनमें हमने अपने को और समाज को जकड़ रखा है, दूसरा वे व्यक्तिगत मनोवृत्तियाँ हैं जो हमारे मन को संकुचित रखती हैं और उसमें बाहर की वायु और प्रकाश नहीं जाने देतीं। रूढ़ियों से तो हम इस समय बहस नहीं करना चाहते; क्योंकि उनका सुधार हमारे बस की बात नहीं, वह समष्टि की जागृति पर निर्भर है, लेकिन व्यक्तिगत मनोवृत्तियों का संस्कार हमारे बस की बात है, और हम अपना विचार यहीं तक परिमित रखेंगे।

अक्सर ऐसे लोग बहुत दुखी देखे जाते हैं जो असंयम के कारण अपना स्वास्थ्य खो बैठे हैं या जिन पर लक्ष्मी की अकृपा है। लेकिन वास्तव में सुख के लिये न धन अनिवार्य है न स्वास्थ्य। कितने ही धनी आदमी दुखी हैं, कितने ही रोगी सुखी हैं। सुखी जीवन के लिये मन का स्वस्थ होना अत्यंत आवश्यक है। लेकिन फिर भी सुखी जीवन के लिये निरोग शरीर लाजिमी चीज है। सभी तो ऋषि नहीं होते। बलवान और स्वस्थ मन, बलवान और स्वस्थ देह में ही रह सकता है। साधना और तप इस नियम में अपवाद उत्पन्न कर सकते हैं, लेकिन साधारणतः स्वस्थ देह और स्वस्थ मन में कारण और कार्य का संबंध है। यद्यपि वर्तमान रहन-सहन ने इसे दुस्तर बना दिया है, तथापि सामान्य मनुष्य अगर बुद्धि से काम ले और प्राकृतिक जीवन के आदर्श की तरफ से आँखें न बंद कर ले, तो वह अपनी देह को निरोग रख सकता है। देह तो एक मशीन है। इसे जिस तरह कोयले-पानी की जरूरत है उसी

तरह इससे काम लेने की जरूरत है। अगर हम इस मशीन से काम न लें तो बहुत-थोड़े दिनों में इसके पुर्जों में मोरचा लग जायेगा। मजदूरों के लिये यह प्रश्न ही नहीं उठता। यह प्रश्न तो केवल उन लोगों के लिये है जो गद्दी या कुर्सी पर बैठकर काम करते हैं। उन्हें कोई न कोई कसरत जरूर ही करनी चाहिए। क्रिकेट और टेनिस के लिये हमारे पास साधन नहीं है तो क्या, हम अपने घर में सौ-पचास डंड-बैठक भी नहीं लगा सकते? अगर हम स्वास्थ्य के लिये एक घंटा भी समय नहीं दे सकते तो इसका स्पष्ट अर्थ यही है कि हम सुख को ठोकरों से मारकर अपने द्वार से भगाते हैं।

भोजन का प्रश्न भी कुछ कम महत्वपूर्ण नहीं है। क्या चीज किस तरह और कितनी खाई जाये, इस विषय में मूर्खों से अधिक शिक्षित लोग गलती करते हैं। अधिकतर तो ऐसे आदमी मिलेंगे जो इस विषय में कुछ जानते ही नहीं। जिंदगी का सबसे बड़ा काम है भोजन। इसी धुरी पर संसार का सारा चक्र चलता है और उसी के विषय में हम कुछ नहीं जानते! बच्चों में शील और विनय का तथा बड़ों में संयम का पहला पाठ भोजन से आरंभ होता है। यह हास्यास्पद-सी बात है, पर वास्तव में आत्मोन्नति का पहला मंत्र भोजन में पथ्यापथ्य का विचार है।

दुख का एक बड़ा कारण है अपने-ही-आप में डूबे रहना, हमेशा अपने ही विषय में सोचते रहना। हम यों करते तो यों होते, वकालत पास करके अपनी मिट्टी खराब की, इससे कहीं अच्छा होता कि नौकरी कर ली होती। अगर नौकर हैं तो यह पछतावा है कि वकालत क्यों न कर ली। लड़के नहीं हैं तो यह फिक्र मारे डालती है कि लड़के कब होंगे। लड़के हैं तो रो रहे हैं कि ये क्यों हुए, ये कच्चे-बच्चे न होते तो कितने आराम से जिंदगी कटती। कितने ही ऐसे हैं जो अपने वैवाहिक जीवन से असंतुष्ट हैं। कोई माँ-बाप को कोसता है जिन्होंने उसके गले में जबरदस्ती जुआ डाल दिया- कोई मामा या फूफा को जिन्होंने विवाह पक्का किया! अब उनकी सूरत भी उसे पसंद नहीं। बीबी से आए दिन ठनी रहती है- वह सलीका नहीं रखती, मैली है, फूहड़ है, मुर्दा है या मुहर्रमी है। जब देखो, मुँह लटकाएं बैठी रहती है। यह नहीं कि पति महोदय दिन-भर के बाद घर में आए हैं तो लपक कर उनके गले से लिपट जाये! इस श्रेणी में अधिकतर लेखक-समाज और नवशिक्षित युवक हैं। ये दूसरों की बीवियों को देखकर अपनी किस्मत ठोकते हैं- वह कितनी सुघड़ है, कितनी हँसमुख, कितनी सुरुचि रखने वाली! दिन-रात बेचारे इसी डाह में जला करते हैं। कुछ ऐसे लोग भी हैं जो चाहते हैं कि सारी दुनिया उनकी प्रशंसा करती रहे। खुद जब मौका पाते हैं, अपनी तारीफ शुरू कर देते हैं। वे खुद किसी के प्रशंसक नहीं बनते, किसी से प्रेम नहीं करते। लेकिन इच्छुक हैं कि दुनिया उनके आगे नतमस्तक खड़ी रहे, उनका गुण-गान करती रहे। दुनिया उनकी कद्र नहीं करती, इस फिक्र में घुले जाते हैं, इससे उनके स्वभाव और व्यवहार में कटुता आ जाती है। और ऐसे लोग तो घर-घर मिलेंगे जो निन्नानबे के फेर में पड़कर जीवन को भार बना लेते हैं। संचय, संचय, लगातार संचय! इसी में उनके प्राण बसते हैं। ऐसा आदमी केवल उन्हीं से प्रसन्न रहता है जो संचय में उसके सहायक होते हैं। और किसी से उसे सरोकार नहीं। बीबी से हँसने-बोलने का उसके पास समय नहीं, लड़कों को प्यार करने और दुलारने का उसे बिलकुल अवकाश नहीं। घर में किसी से धेले का नुकसान भी हो गया तो उसके सिर हो जाता है। बीबी ने अगर एक आने की जगह पाँच पैसे की तरकारी मंगवा ली तो पति को रात-भर झींकने का मसाला मिल गया- तुम घर लुटा दोगी, तुम्हें क्या खबर पैसे कैसे आते हैं, आज मर जाऊँ तो भीख माँगती फिरो। ऐसी-ऐसी दिल जलाने वाली बातें करके आप रोता है और दूसरों को रुलाता है। लड़के से कोई चिमनी टूट गई, तो कुछ न पूछो, बेचारे निरपराध बालक की शामत आ गई। मारते-मारते उसकी खाल उधेड़ डाली। माना, लड़के से नुकसान हुआ, तुम गरीब हो और तुम्हारे लिये दो-चार आने का नुकसान भी कठिन है। लेकिन लड़के को पीटकर तुमने क्या पाया? चिमनी तो जुड़ नहीं गई! हाँ, स्नेह का बंधन जरूर टूटने-टूटने हो गया। यह सब अपने-आपमें डूबे रहने वालों का हाल है। उनके लिये केवल यही औषध है कि अपने विषय में इतनी चिंता न करें, दूसरों में भी दिलचस्पी लेना सीखें- चिड़िया पालना, फूल-पौधे लगाना, गाना-बजाना, गपशप करना, किसी आंदोलन में भाग लेना। गरज मन को अपनी ओर से हटाकर बाहर की ओर ले जाना ही ऐसे चिंताशील प्रकृतिवालों के लिये दुःखनिवारक हो सकता है।

> **कुछ ऐसे लोग भी हैं जो चाहते हैं कि सारी दुनिया उनकी प्रशंसा करती रहे। खुद जब मौका पाते हैं, अपनी तारीफ शुरू कर देते हैं। वे खुद किसी के प्रशंसक नहीं बनते, किसी से प्रेम नहीं करते। लेकिन इच्छुक हैं कि दुनिया उनके आगे नतमस्तक खड़ी रहे, उनका गुण-गान करती रहे।**

उदासीन प्रकृति वाले भी अक्सर दुखी रहते हैं। संसार में इनके लिये कोई सार वस्तु नहीं। यह मरज अधिकतर उच्च कोटि के विद्वानों को होता है। उन्होंने संसार के तत्व को पहचान लिया है और जीवन में अब ऐसी उन्हें कोई वस्तु नहीं मिलती जिसके लिये वे जिएँ! संसार रसातल की ओर जा रहा है, लोगों से प्रेम उठ गया, सहानुभूति का कहीं नाम नहीं, साहित्य का डोंगा डूब गया, जिससे प्रेम करो वही बेवफाई करता है, संसार में विश्वास किस पर किया जाए? यह चीज तो उठ गई, अब लखन-से भाई और हनुमान-से सेवक कहाँ? यह उदासीनता अधिकतर उन्हीं लोगों में होती है जो संपन्न हैं, जिन्हें जीविका के लिये कोई काम नहीं करना पड़ता। मजे से खाते हैं और सोते हैं। क्रियाशीलता का उनमें अभाव होता है। वे दुनिया में केवल रोने के लिये आए हैं, किसी का उनकी जात से उपकार नहीं होता। हर-एक चीज में ऐब निकालना, हर-एक चीज से असंतुष्ट रहना, यही उनका उद्यम है। ऐसे लोगों का इलाज यही है कि तुरंत किसी काम में लग जायें। और कुछ न हो सके तो ताश खेलना ही शुरू कर दें। कोई भी व्यसन उस रोने से अच्छा है। संसार कब रसातल की ओर नहीं जा रहा था? जब कौरवों ने द्रौपदी को भरी सभा में नंगा करना चाहा और पांडव बैठे टुकुर-टुकुर देखते रहे, क्या तब संसार रसातल को नहीं जा रहा था? किस युग में भाई ने भाई का गला नहीं काटा, मित्रों ने विश्वासघात नहीं किया, व्यभिचार नहीं हुआ, शराब के दौर नहीं चले, लड़ाइयाँ नहीं हुई, अधर्म नहीं हुआ? मगर पृथ्वी आज भी वहीं हैं जहां दस हजार बरस पहले थी! न रसातल गई न पाताल! और इसी तरह अनंत काल तक रहेगी। संदेह जीवन का तत्व है। स्वस्थ मन में सदैव संदेह उठते हैं और संसार में जो कुछ उन्नति है उसमें संदेह का बहुत हाथ है। लेकिन संदेह क्रियाशील होना चाहिए, जो नित नए आविष्कार करता है, जो साहित्य और दर्शन की सृष्टि करता है। संसार अनित्य है तो आपको इसकी क्या चिंता है? विश्वास मानिए, आपके जीवन में प्रलय न होगा। और अगर प्रलय भी हो जाये तो आपके चिंता करने की वजह? जो सबकी गति होगी वही आपकी भी होगी। घर से बाहर निकलकर देखिए- मैदान में कितनी मनोहर हरियाली है, वृक्षों पर पक्षियों का कितना मीठा गाना हो रहा है, नदी में चाँद कैसा थिरक रहा है। क्या इन दृश्यों से आपको जरा भी आनंद नहीं आता? किसी झोपड़ी में जाकर देखिए। माता फाके कर रही हैं, पर कितने प्रेम से बालक को अपने सूखे स्तन से चिमटाए हुए हैं! पत्नी अपने बीमार पति के सिरहाने बैठी मोती बरसा रही है और ईश्वर से मनाती है कि पति की जगह वह खुद बीमार हो जाये। विश्वास कीजिए, आप सेवा और त्याग तथा विश्वास के ऐसे-ऐसे कृत्य देखेंगे कि आपकी आँखें खुल जाएँगी। हो सके तो उनकी कुछ मदद कीजिए, प्रेम करना सीखिए। उस उदासीनता की, उस मानसिक व्यभिचार की, यही दवा है।

आज-कल दुख की एक नई टकसाल खुल गई है और वह है- जीवन संग्राम! जीवन-संग्राम! जिधर देखिए, यही आवाज सुनाई देती है! इस संग्राम में आप किसी से सहानुभूति की, क्षमा की, प्रोत्साहन की, आशा नहीं कर सकते। सभी अपने-अपने नख और दंत निकाले शिकार की ताक में बैठे हैं। उनकी क्षुधा प्रशांत-महासागर से भी गहरी है, किसी तरह शांत नहीं होती। काश! यह दिन चौबीस घंटों की जगह अड़तालीस घंटों का होता! इधर सूर्य निकला और उधर मशीन चली। फिर वह दो बजे रात से पहले नहीं बंद हो सकती- एक मिनट के लिये भी नहीं। नाश्ता खड़े-खड़े कीजिए, खाना दौड़ते-दौड़ते खाइए, मित्रों से मिलने का समय नहीं, फालतू बातें सुनने की फुर्सत नहीं। मतलब की बात कहिए साहब, चटपट! समय का एक-एक मिनट अशरफी है, मोती है, उसे व्यर्थ नहीं खो सकते। यह संग्राम की मनोवत्ति पच्छिम से आई है और बड़े वेग से भारत में फैल रही है। बड़े-बड़े शहरों पर तो उसका अधिकार हो चुका। अब छोटे-छोटे शहरों और कस्बों में भी उसकी अमलदारी होती जाती है। मंदी, तेजी, बाजार के चढ़ाव-उतार, हिस्सों का घटना-बढ़ना-यही जीवन है। नींद में भी यही मंदी-तेजी का स्वप्न देखते हैं! पुस्तकें पढ़ने की किसे फुर्सत, सिनेमा देख लेंगे। उपन्यास कौन पढ़े, छोटी कहानियों से मनोरंजन कर लेते हैं। लेकिन यह खब्त भी है कि हम किसी क्षेत्र में भी किसी से पीछे न रहें। साहित्य और दर्शन और राजनीति, हर विषय में नई से नई बातें भी हमसे बचने न पावें। सुरुचि और सर्वज्ञता के प्रदर्शन के लिये नई से नई पुस्तकें तो मेज पर होनी ही चाहिए। किसी तरह उनका खुलासा मिल जाये तो क्या कहना, दस मिनिट में किताब का लुब्बे-लबाब मालूम हो जाये। आलोचना पढ़कर भी तो काम चल सकता है। इसीलिये लोग आलोचनाएं बड़े शौक से पढ़ते हैं। अब हम उन ग्रंथों पर अपनी राय देने के अधिकारी हैं! सभ्य समाज में कोई हमें मूर्ख नहीं कह सकता। इस भाग-दौड़ के जीवन में आनंद के लिये कहाँ स्थान हो सकता है? जीवन में सफलता अवश्य आनंद का एक अंग है और बहुत ही महत्वपूर्ण अंग, लेकिन हमें उस तेज घोड़े को अपनी रानों के नीचे रखना चाहिए। यह नहीं कि वह हमें जिधर चाहे लिए दौड़ता फिरे। जीवन को संग्राम समझना- यह समझना कि यह केवल पहलवानों का अखाड़ा है और हम केवल अपने प्रतिद्वंद्वियों को पछाड़ने के लिये ही संसार में आए हैं, उन्माद है। इसका परिणाम यह होता है कि हमारी इच्छा तो बलवान हो जाती है, लेकिन विचार और विवेक का सर्वनाश हो जाता है। इसका इलाज केवल यह है कि हम संतोष और शांति का मूल्य समझें। जीवन का आनंद खोकर जो सफलता मिले वह

हम अपनी रचना को अमूल्य समझें, इसका हमें अधिकार है, लेकिन दूसरे तो उसे तभी अमूल्य समझेंगे जब वह अमूल्य होगी। यह मनोवृत्ति जब बहुत बढ़ जाती है तब आदमी अपने लड़कों को ही अपना बैरी समझने लगता है।

वैसी ही है जैसे अंधी आँखों के सामने कोई तमाशा। सफलता का उद्देश्य है आनंद। अगर सफलता से दुख बढ़े, अशांति बढ़े, तो वह वास्तविक सफलता नहीं।

भविष्य की चिंता दुख का कारण ही नहीं, प्रधान कारण है। कल कहीं चल बसे तो क्या होगा! घर का कुछ भी इंतजाम न कर सके। मकान न बनवा सके। पोते का विवाह भी न देखा। इधर हमने आँखें बंद कीं और उधर सारी गृहस्थी तीन-तेरह हुई! लड़का उड़ाऊ है, पैसे की कद्र नहीं करता, न जमाने का रुख देखता है। इस चिंता में अक्सर रात को नींद नहीं आती, जिसका स्वास्थ्य पर बुरा असर पड़ता है। ऐसी मनोवृत्ति नई-नई शंकाओं की सृष्टि करने में निपुण होती है। दो-चार दिन खाँसी आई तो तुरंत तपेदिक की शंका होने लगी। दो-चार दिन हल्का ज्वर आ गया तो शंका हुई, जीर्ण ज्वर है! अगर जवानी में आँखें बहक गई है तो अब पाप की भावना हृदय को दबाए हुए हैं। यही शंका लगी हुई है कि उस अपराध के दंड-स्वरूप न जाने क्या आफत आने वाली है। लड़का बीमार हुआ और मान-मनौती होने लगी। बस वही दंड है। किसी बड़े मुकदमे में हारे और वही शंका सिर पर सवार हुई। बस यह सब उसी का फल है। इतना बोझ लेकर वैतरणी कैसे पार होगी! नरक की भीषण कल्पना खाना-पीना हराम किए देती है। इसका इलाज यही है कि आदमी हर-एक विषय पर ठंडे मन से विचार करे, यहां तक कि उस पर उसके सारे पहलू रोशन हो जायें। तुम क्यों समझते हो कि तुम्हारे लड़के तुमसे ज्यादा नालायक होंगे? इसी तरह तुम्हारे बाप ने भी तो तुम्हें नालायक समझा था! पर तुम तो लायक हो गए और आज गृहस्थी की देख-भाल मजे से कर रहे हो। तुम्हारे बाद इसी तरह तुम्हारा लड़का भी घर सँभाल लेगा। मुमकिन है, वह तुमसे ज्यादा चतुर निकले। और पाप तो केवल पंथों का ढकोसला है।

हमारे समुदाय में कोई शराबी नहीं, हमने पी ली तो पाप किया। क्यों पाप किया? करोड़ों आदमी रोज पीते हैं, खुले-खजाने पीते हैं। वे इसे पाप नहीं समझते, बल्कि उनकी निगाह में जो शराब न पिए वही पापी है। हमारे कुल में मांस खाना वर्जित है, हमने खा लिया तो कोई पाप नहीं किया। सारी दुनिया खाती है, फिर हमारे लिये ही क्यों मांस खाना पाप है? पाप वही है जिससे अपना या दूसरों का अहित होता हो। अगर शराब पीने से तुम्हारे सिर में दर्द होने लगता है या तुम बहककर गालियाँ बकने लगते हो, तो बेशक तुम्हारे लिये शराब पीना पाप है। अगर तुम शराब के पीछे बाल-बच्चों को खाने-पीने का कष्ट देते हो, तो बेशक शराब पीना तुम्हारे लिये पाप है, उसे तुरन्त छोड़ दो। इसी तरह मांस खाने से अगर तुम्हारे पेट में दर्द होने लगे तो वह तुम्हारे लिये वर्जित है। मांस ही क्यों, दूध पीने से तुम्हारी पाचन क्रिया बिगड़ जाये तो दूध भी तुम्हारे लिये वर्जित है। धर्म-अधर्म के मिथ्या विचारों में पड़कर, दैवी दंड की कल्पनाएं करके, क्यों अपने को दुखी करते हो? बाबा-वाक्य की गुलामी-केवल इसलिये कि बाबा-वाक्य है- चाहे कट्टरपंथियों में तुम्हारा सम्मान बढ़ा दे, पर है मूर्खता। स्वयं विचार करो कि वास्तव में दुष्कर्म क्या है। अपने कारोबार में काइयाँपन, नौकरों से कटु व्यवहार, बाल-बच्चों पर अत्याचार, अपने सहवर्गियों से ईर्ष्या और द्वेष, प्रतिद्वंद्वियों पर मिथ्या आरोप, बुरी नीयत, दगा-फरेब-ये सब वास्तव में दुष्कर्म हैं जिनकी कानून में भी सजा नहीं, लेकिन जिनसे मानव-समाज का सर्वनाश हो रहा है। मन में पाप की कल्पना का बैठ जाना हमारे आत्म-सम्मान को मिटा देता है और जब आत्म-सम्मान चला गया तब समझ लो कि बहुत-कुछ चला गया। पापाक्रांत मन सदैव ईर्ष्या से जला करता है, सदैव दूसरों के ऐब देखता रहता है, सदैव धर्म का ढोंग रचा करता है। जब तक वह दूसरों के पाप का पर्दा न खोल दे और अपनी धर्म-परायणता प्रमाणित न कर दे, उसको शांति नहीं!

हमारे दो-एक मित्र ऐसे हैं जिन्हें हमेशा यह फिक्र सताया करती है कि लोग उनसे जलते हैं, उनके लेखों की कोई प्रशंसा नहीं करता, उनकी पुस्तकों की बुरी आलोचनाएं ही होती हैं। अवश्य ही कुछ लोगों ने एक गुट बनाकर उनका अनादर करना ही अपना ध्येय बना लिया है। ऐसे आदमी सदैव दूसरों से इस तरह सशंक रहते हैं मानों वे खुफिया पुलिस हों। बस, जिसने उनकी प्रशंसा न की उसे अपना दुश्मन समझ लिया। इसका कारण इसके सिवा और क्या है कि वे अपने को उससे कहीं बड़ा आदमी समझते हैं जितने वे हैं। संसार को क्या गरज पड़ी है कि उनके पीछे हाथ धोकर पड़ जाये। हम अपनी रचना को अमूल्य समझें, इसका हमें अधिकार है, लेकिन दूसरे तो उसे तभी अमूल्य समझेंगे जब वह अमूल्य होगी। यह मनोवृत्ति जब बहुत बढ़ जाती है तब आदमी अपने लड़कों को ही अपना बैरी समझने लगता है। वह कदाचित आशा करता है कि उसके लड़के अपने लड़कों से ज्यादा उसका खयाल रखें। यह अस्वाभाविक है। किसी को यह अधिकार नहीं कि वह किसी दूसरे को, चाहे वह उसका लड़का ही क्यों न हो, उसके स्वाभाविक मार्ग से हटाकर अपनी राह पर लगाए। ■

रामधारी सिंह दिनकर

जन्म : २३ सितंबर १९०८, सिमरिया, मुंगेर, बिहार - निधन : २४ अप्रैल १९७४

कविता संग्रह : रश्मिरथी; उर्वशी; हुंकार; कुरुक्षेत्र; परशुराम की प्रतीक्षा; हाहाकार। आलोचना : मिट्टी की ओर; काव्य की भूमिका; पंत, प्रसाद और मैथिलीशरण; हमारी सांस्कृतिक कहानी; शुद्ध कविता की खोज। इतिहास : संस्कृति के चार अध्याय। सम्मान : साहित्य अकादमी पुरस्कार, पद्मविभूषण, भारतीय ज्ञानपीठ पुरस्कार।

कृति-स्मृति

अंग्रेजी के गुण और दोष

जब से भारत में राष्ट्रीयता का आविर्भाव हुआ, लोग अंग्रेजी शिक्षा के विरुद्ध बहुत-सी बातें कहने लगे हैं।

इस शिक्षा का सबसे बड़ा दोष यह बताया जाता है कि इसके कारण भारत के शिक्षितों और अशिक्षितों के बीच एक खाई-सी खुद गई और जो भी आदमी ग्रेजुएट हुआ, वह अपने ही लोगों के बीच अजनबी बन गया। इसी प्रकार का अपरिचय अंग्रेजी शिक्षा वालों का उन लोगों के भी साथ है जो केवल हिन्दी, संस्कृत, फारसी, बँगला, तमिल या और देश-भाषाएँ पढ़कर शिक्षित हुए हैं। एक दूसरा दोष यह है कि अंग्रेजी सीखने के लिये जो श्रम किया जाता है, वह तो फिर भी सार्थक है, क्योंकि हम एक नई भाषा सीख लेते हैं, किन्तु इतिहास, भूगोल, अर्थशास्त्र और अन्य सारी विद्याओं का अंग्रेजी में सिखाया जाना अनावश्यक बोझ है। यदि देश-भाषाओं के द्वारा हम विविध विद्याओं की शिक्षा देते तो युवकों के मस्तिष्क पर उतना बड़ा बोझ नहीं पड़ता, जितना अंग्रेजी के माध्यम से सीखने में पड़ता है। यह भी हुआ कि भाषा की साधना में सदैव लीन रहने के कारण, छात्रों का सारा मन साहित्यिक हो उठा, ज्ञान-संचय की विशेषता की ओर उनका ध्यान जोर से कभी नहीं जा सका। आज तक हमारे छात्र केवल इस चिन्ता से त्रस्त रहे हैं कि शुद्ध-शुद्ध अंग्रेजी लिखने की योग्यता वे कैसे प्राप्त कर सकते हैं। भाषा की योग्यता से अलग जो ज्ञान के अनेक क्षेत्र हैं, उनमें विचरण करने का अवकाश छात्रों को मिलता ही नहीं है। एक यह दोष भी बताया जाता है कि विदेशी भाषा के साथ जो विदेशी मनोदशा, विदेशी चिन्तन-पद्धति और विदेशी संस्कृति आई, उसे भारत के भीतर पचाने के क्रम में दो-तीन पीढ़ियों का समय व्यर्थ ही नष्ट हो गया।

किन्तु इस शिक्षा से, हानि की तुलना में, लाभ कुछ अधिक हुआ है, इसे अस्वीकार करने का प्रयास व्यर्थ है। वस्तुतः वर्तमान भारत का जन्म ही अंग्रेजी-शिक्षा-पद्धति की गोद में हुआ। जब अंग्रेज आए, भारत का बहुत ही बुरा हाल था। भारतवासी अपने इतिहास को भूल चुके थे, वे बाहर का तो क्या, अपने देश का भी भूगोल ठीक से नहीं जानते थे। वैयक्तिकता का विष जो भारत में बहुत दिनों से चला आ रहा था, इस काल में आकर और भी बढ़ गया था। समाज और देश के प्रति भी हमारा कोई कर्तव्य है, इस बात को लोग बिलकुल ही भूल बैठे थे। इस अवस्था के बीच पहले-पहले अंग्रेजी शिक्षा के द्वारा ही वह दल आविर्भूत हुआ, जिसका उद्देश्य सामाजिक था, जो केवल अपने को ही नहीं, अपने देश और समाज को भी पहचानने की इच्छा रखता था। समाज और देश के प्रति जो नवीन चेतना जगी, उसी के भीतर से हमारी राजनैतिक, सामाजिक और धार्मिक क्रांतियों का जन्म हुआ है। सामाजिक चेतना ही वह गुण है जो आज के औसत भारतवासी को प्राचीन अथवा मध्ययुगीन भारतवासी से विभक्त करता है और यह चेतना भारत को यूरोपीय सम्पर्क से मिली है। यह ठीक है कि भारतीय जनता को अशिक्षा एवं अंधविश्वास की जकड़बंदी से छुड़ाने अथवा उसके भीतर प्रगतिशील विचारों को प्रेरित करने का काम अंग्रेज शासकों ने नहीं किया, किन्तु नई विद्या के प्रचार से ये सारे कार्य आप-से-आप हो गए।

नई शिक्षा का एक अन्य श्रेष्ठतम परिणाम यह हुआ कि अंग्रेजी के भीतर से यूरोप के तेजपूर्ण विचारों का सेवन करते-करते शिक्षित भारतवर्ष की मानसिक एकता में वृद्धि हुई। संस्कृत के सार्वदेशिक भाषा होने के कारण, पहले भी सारा

फारसी के जरिए जो भाषागत एकता उत्पन्न हुई थी, वह दक्षिण तो पहुँची ही नहीं थी, उत्तर में भी रहकर बहुत कमजोर थी। किन्तु अंग्रेजी के सार्वदेशिक प्रचलन के कारण देश की एकता बहुत ही पुष्ट हो गई। आज भी हमारी एकता का सबसे बड़ा आधार अंग्रेजी भाषा ही है, जिसमें हमारी सरकार और संसद के अधिकतर काम चल रहे हैं।

भारत एक था, किन्तु संस्कृत का भारत में जितना अंतःप्रांतीय प्रचार था, उससे कुछ अधिक प्रचार अब अंग्रेजी का हो गया। अतएव, भारत की भौगोलिक एकता अब कुछ और प्रबल हो गई एवं देश-भाषाओं की विभिन्न दीवारें जो एक भाषा-क्षेत्र को दूसरे भाषा-क्षेत्र से अलग किये हुये थीं, स्वयमेव छोटी हो गईं। फारसी के जरिए जो भाषागत एकता उत्पन्न हुई थी, वह दक्षिण तो पहुँची ही नहीं थी, उत्तर में भी रहकर बहुत कमजोर थी। किन्तु अंग्रेजी के सार्वदेशिक प्रचलन के कारण देश की एकता बहुत ही पुष्ट हो गई। आज भी हमारी एकता का सबसे बड़ा आधार अंग्रेजी भाषा ही है, जिसमें हमारी सरकार और संसद के अधिकतर काम चल रहे हैं। देश ने यह निर्णय किया कि जिस राष्ट्रीय एकता को आज अंग्रेजी संभाले हुए हैं, वह बोझ हिन्दी उठा ले और जनता अपनी देश-भाषाओं में ही अपना काम करे, किन्तु ऐसा लगता है कि यह कार्य, शनैः–शनैः ही पूरा होगा।

सबसे बड़ी बात यह हुई कि जब अंग्रेजी भाषा भारत में अपना पाँव फैला रही थी, ठीक उसी समय, यूरोप में स्वतंत्रता, राष्ट्रीयता, प्रजातंत्र और उदार भावनाओं के जोरदार आंदोलन चल रहे थे। अठारहवीं सदी में यूरोप के क्रांतिकारी विचारों के जो नेता उत्पन्न हुए, अनेक हलचलों और क्रांतियों के बाद उन्नीसवीं सदी में आकर उनके विचारों ने दर्शन का रूप ले लिया और वे यूरोप को आंदोलित करने लगे। विचारों का यह आंदोलन सहस्र धाराओं में चल रहा था एवं कविता, नाटक, उपन्यास, आलोचना, निबंध, दर्शन, भाषण और शास्त्रार्थ तथा राजनैतिक दलों एवं सरकारों के संगठनों में से, सब-के-सब, इन विचारों से, ओत-प्रोत हो रहे थे। फ्रांसीसी क्रांति का 'स्वतंत्रता, समानता, और भ्रातृत्व' वाला महान् उद्घोष अब पिघलकर उदारतावाद में ढल गया था। खुद इंग्लैंड में उस समय कानूनी सुधारों को लेकर घमासान आंदोलन चल रहा था।

राज्य वही अच्छा है जिसमें अधिक-से-अधिक लोगों का अधिक-से-अधिक कल्याण हो, ये और ऐसे अनेक अन्य विचार इंग्लैंड में भी गृहीत होते जा रहे थे। इस सारे विचारों और आंदोलनों का उत्तराधिकार भारत को, आप-से-आप, प्राप्त हो गया, क्योंकि अंग्रेजी भाषा के द्वारा इस देश के चिंतक यूरोपीय विचारों के गहन संपर्क में थे। भारत वर्ष में अंग्रेजी की पुस्तकें और समाचार-पत्र धड़ल्ले से आ रहे थे, अतएव, यूरोप में चलने वाले वैचारिक आंदोलनों के साथ-साथ भारत अनायास सम्बद्ध हो गया एवं जिन भावनाओं की चोट से यूरोप के मस्तिष्क की शिराएँ थरथरा रही थीं, उन भावनाओं की चोट भारत को भी महसूस होने लगी। यूरोप की वैचारिक क्रांतियों में उस समय भारत ने अपना योगदान, विचारक की हैसियत से भले ही न दिया हो, किन्तु उनका प्रभाव ग्रहण करने में यह देश यूरोप से पीछे नहीं रहा।

कम्पनी सरकार की शिक्षा-नीति : कम्पनी सरकार भारतवासियों की शिक्षा की जिम्मेवारी लेने को तैयार नहीं थी। सरकार कई प्रकार की कठिनाइयों से डरती थी। सबसे बड़ी कठिनाई यह थी कि अगर सारी जनता को शिक्षित करने का कार्यक्रम बनाया जाए तो इस विशाल कार्य के लिए धन कहाँ से आएगा? दूसरी कठिनाई यह थी कि जनता को शिक्षित करना है तो यह शिक्षा किन-किन भाषाओं में दी जा सकती है। तीसरी कठिनाई यह थी कि यूरोपीय विद्याओं का ज्ञान अगर भारत में बिखेरना है तो वे विद्याएँ भारतीय भाषाओं में उतारी कैसे जाएँ? एक चौथी कठिनाई इस बात को लेकर थी कि अगर यूरोपीय ज्ञान भारतीयों को दिया गया तो वे स्वराज्य की मांग करेंगे और कम्पनी शासन के सामने मुसीबत खड़ी हो जायेगी।

कम्पनी का चार्टर हर बीस साल के बाद बदला जाता था। सन् १७९३ ई. में जब कम्पनी को नया चार्टर दिया जाने लगा तब चार्ल्स ग्रांट (१७४६-१८२३) ने बहुत कोशिश की कि कम्पनी की जिम्मेदारियों में शिक्षा भी सम्मिलित कर दी जाए। लेकिन, उस समय, उसे कामयाबी नहीं मिली। परन्तु, उसी के उद्योग से सन् १८१३ ई. वाले चार्टर में कम्पनी को शिक्षा की जिम्मेवारी दे गई और उस मद में उस समय केवल एक लाख रुपये रखे गए। बीस वर्ष बाद, जब १८३३ ई. में कम्पनी को नया चार्टर दिया जाने लगा, तब यह रकम बढ़ाकर दस लाख कर दी गई।

चार्ल्स ग्रांट के विचार भारतवासियों के बारे में बहुत बुरे थे। भारतवासियों को वह मूर्ख, धर्म-आचार-विहीन तथा पतनशील समझता था। सबसे पहले उसी ने इस विचार को प्रोत्साहन दिया कि भारतवासियों के सुधार का एकमात्र उपाय यह है कि उन्हें अंग्रेजी पढ़ाई जाए। उसका कहना था कि जब विदेशियों को शिक्षित करना होता है, तब शिक्षा उन्हीं की भाषा में दी जाती है, यह ठीक है। लेकिन, भारत का हाल दूसरा है। वहाँ बहुत-से लोग खुद ही अंग्रेजी सीख रहे हैं। यह भी कि विजेता अगर विजित समाज को अपने रंग में रँगना चाहे तो इसका सबसे सुगम उपाय यह है कि वह उसे अपनी भाषा सिखा दे। मुसलमानों ने अपने शासनकाल में हिन्दुओं को फारसी पढ़ाई थी। नतीजा यह हुआ कि हिन्दू उन्हें अपने से श्रेष्ठ मानने लगे। यही नीति अंग्रेजों को भी अपनानी चाहिए। ग्रांट ने ब्रिटिश सरकार को सबसे बड़ा लोभ यह दिखाया कि अंग्रेजी के जरिए हिन्दुओं को ईसाइयत का पूरा ज्ञान हो जायेगा और ईसाइयत पर लट्टू होकर वे आसानी से क्रिस्तान हो जाएँगे। ■

राजेन्द्र माथुर

७ अगस्त १९३५ को बदनावर, जिला धार, मध्यप्रदेश में जन्म। अंग्रेजी साहित्य में स्नातकोत्तर। कॉलेज में अंग्रेजी साहित्य का अध्यापन छोड़कर १९७० में नईदुनिया में पहुंचे और यहीं प्रधान संपादक हुए। बाद में नवभारत टाइम्स के प्रधान सम्पादक हुए। उन्हें प्रेस आयोग का सदस्य भी मनोनीत किया गया। प्रकाशित पुस्तकें - गाँधी जी की जेल यात्रा, नब्ज पर हाथ, राजेन्द्र माथुर संचयन - दो खण्ड। ९ अप्रैल १९९१ को आकस्मिक निधन।

कृति-स्मृति

एक पुरानी चट्टान

आज जब हम अंग्रेजी हटाने की बात करते हैं, तब सवाल अंग्रेजी का नहीं है। सवाल तीन हजार साल पुरानी आदत बदलने का है। यह चट्टान अंग्रेजों ने हमारे ऊपर नहीं रखी है। वह एक प्रागैतिहासिक चट्टान है, जो आजादी के ज्वालामुखी में तप रही है और लावा बनकर बहना चाह रही है।

भाषा के मामले में भारत उस लंगड़े आदमी की तरह है, जो तीन हजार सालों से बैसाखियों के सहारे चल रहा है। अब ये बैसाखियां पैरों से अधिक स्वाभाविक बन गई है और जब यह प्रस्ताव आता है कि हम अपने पैरों के बल चलें, तो हम भयभीत हो जाते हैं।

इस देश का सबसे पहला 'अंग्रेजी हटाओ' आंदोलन गौतम बुद्ध ने शुरू किया, जब उन्होंने संस्कृत के बजाय लोकभाषाओं को प्रतिष्ठित करने की कोशिश की और पाली में धर्मग्रंथ लिखे। यह ढाई हजार साल पहले की बात है। लेकिन संस्कृत नहीं हटी और उसने कालिदास और भवभूति पैदा किये।

यह बहस करने लायक प्रश्न है कि अगर लोक भाषा और देव भाषा के बीच इतनी खाई यहां नहीं होती, तो क्या हमारा साहित्य और अधिक समृद्ध नहीं होता? क्या कालिदास कुछ और ऊँचे नहीं होते।

इस प्रश्न के साथ कुछ बड़े राजनैतिक प्रश्न भी जुड़े हुए हैं, जिनसे भारत की किस्मत बदल सकती थी। देव भाषा और लोक भाषा के बीच जो खाई यहां है, वह शासक और शासित, बुद्धिजीवी और जनता की, ब्राह्मण और शेष जातियों की खाई है। प्रश्न यह है कि अगर यह खाई खत्म नहीं होती, तो क्या भारत का पतन होता?

यों ऐसी खाई यूरोप में भी रही है। लेकिन जबसे यूरोप में रिनेसां (पुनर्जागरण) शुरू हुआ, तबसे उन्होंने वह दीवारें तोड़नी शुरू कीं, जो देव-भाषा और लोक भाषा को अलग करती है। लेटिन और ग्रीक का जब नयी भाषाओं के साथ संगम हुआ, तो पश्चिम की आधुनिक सभ्यता ने जन्म लिया।

भारत में दीवार तोड़ने की कोशिश अनादि काल से हो रही है, लेकिन हमारे यहां रिनेसां कभी नहीं आया। गौतम बुद्ध के २२०० वर्ष बाद जब तुलसीदास ने रामायण लिखी, तो पंडितों ने इस 'भाखा' की किताब को गंगा में फेंक दिया। तब गंगा को लोक भाषा की लाज रखनी पड़ी और (जनश्रुति के अनुसार) रामायण तैरने लगी। इस चमत्कार से भयभीत होकर पंडितों ने रामायण को पूज्य मान लिया। भारत में जो बात तर्क से नहीं मानी जाती, वह चमत्कार से मान ली जाती है। अगर दिल्ली के दफ्तरों में हिन्दी की फाइलों के सारे अक्षर एकाएक सुनहरी हो जाएं, तो शायद हिन्दी का महत्व मान लिया जायेगा।

आर्यों से लेकर अब तक भारत ने तीन बार बैसाखियां बदलीं। सबसे पहले संस्कृत थी, फिर फारसी आई और अंत में अंग्रेजी। आज जो तर्क अंग्रेजी के समर्थन में दिये जाते हैं, वे भारत के इतिहास के किसी भी युग में संस्कृत या फारसी के लिये दिये जा सकते थे।

सबसे बड़ा तर्क तब भी यह था कि भारत को एक संपर्क भाषा चाहिए। केरल के शंकराचार्य बद्रीनाथ जाकर शास्त्रार्थ कैसे करें? (अगर बद्रीनाथ नहीं तो ओंकारेश्वर, जहां कहते हैं उनका मंडन मिश्र से शास्त्रार्थ हुआ था।) ज्ञान की अखिल भारतीयता कैसे बनी रहे? वेदों और उपनिषदों के भाष्यकार एक-दूसरे से परिचित कैसे हों?

जब मध्य युग आया, तो देश में धर्म की भाषा संस्कृत हो गई और सांसारिकता की फारसी। हिन्दू राजाओं का कारोबार भी फारसी में चलने लगा। अंग्रेज लोग जब पहले बंगाल में आए, तो वे दो भाषाएँ सीखते थे- बंगला और

फारसी। कुछ विद्वान लोग संस्कृत भी सीख लेते थे। इस तरह वे हमारे इतिहास की तीन सतहों से परिचय प्राप्त करते थे। (वही त्रिभाषा फार्मूला)।

अंग्रेजी के विरोध में सबसे बड़ा तर्क यह है कि वह दो प्रतिशत (तथाकथित) बुद्धिजीवियों को ९८ प्रतिशत जनता से अलग करती है। लेकिन भारत में दो प्रतिशत देव भाषा बोलने वाले हमेशा ही अलग रहे हैं और जनता पर राज करते हैं। आज जब हम अंग्रेजी हटाने की बात करते हैं, तब सवाल अंग्रेजी का नहीं है। सवाल तीन हजार साल पुरानी आदत बदलने का है। यह चट्टान अंग्रेजों ने हमारे ऊपर नहीं रखी है। वह एक प्रागैतिहासिक चट्टान है, जो आजादी के ज्वालामुखी में तप रही है और लावा बनकर बहना चाह रही है।

देवभाषाओं के मोह ने भारत को सदियों से एक नकलची और दूसरे दर्जे का देश बना रखा है। संस्कृत में तो फिर भी ऊंचे दर्जे का साहित्य है, क्योंकि यायावर आर्य भारत आकर खेतिहर बनते गये और संस्कृत का विकास होता गया। केवल संस्कृत ही नहीं, एक पूरी सभ्यता का विकास होता गया, जिसकी जड़ें इस देश में थीं। फारसी की (और मुस्लिम साम्राज्य का) कुछ जड़ें इश देश में थीं और कुछ बाहर। कोई भी मुस्लिम शासक यह नहीं भुला सका कि वह इस्लाम के अंतर्राष्ट्रीय आंदोलन का अंग है।

अगर १९४७ में पाकिस्तान नहीं बनता, तो भारत की भाषा समस्या का एक और कोण होता। तब शायद हिन्दी-ऊर्दू के बीच वह झगड़ा होता, जो आज हिन्दी और दक्षिण की भाषाओं के बीच है। गांधीजी के जमाने में ऐसा झगड़ा था भी। इसीलिए तब कांग्रेस 'हिन्दुस्तानी' नामक एक भाषा को राजभाषा बनाना चाहती थी, जिसमें हिन्दी और उर्दू के मिले-जुले शब्द हों। जब तक संविधान परिषद् ने हिन्दी को स्वीकार नहीं कर लिया, तब तक जवाहरलाल नेहरू हिन्दुस्तानी की वकालत करते रहे और हिन्दी को उन्होंने कड़वे घूंट की तरह मंजूर किया। गांधीजी प्रायः कहा करते थे कि हिन्दुस्तान के हर बच्चे को उर्दू सीखनी चाहिए। इससे सिद्ध होता है कि भाषा का हमारे यहां राजनीति से कितना गहरा संबंध है। पाकिस्तान के निर्माण ने उर्दू या हिन्दुस्तानी का झगड़ा निपटा दिया है। लेकिन जब से भाषावार प्रांत बने हैं, तब से हिन्दी की फजीहत हो रही है।

फारसी भारत में वर्षों चली लेकिन उसने कालिदास पैदा नहीं किया। फारसी साहित्य के इतिहास में कितने हिन्दुस्तानियों का नाम शामिल किया जाता है।

फिर अंत में अंग्रेजी आई, जिसकी सारी जड़ें बाहर थी और केवल शाखाएं भारत में थीं। मुगलों के जमाने में एक मौलिक सभ्यता फिर भी भारत में पनपीं, जिसने हमें अकबर और ताजमहल दिये। लेकिन आंग्ल-भारतीय सभ्यता की मौलिक उपलब्धियां सचमुच सबसे कम हैं।

आंग्ल-भारतीय सभ्यता ने हमें कांग्रेस नामक संगठन दिया और राजा राममोहन राय से लेकर जवाहरलाल नेहरू तक सारे नेता दिये। उसने भारत को आजादी दी। उसने रेलें और डाक खाने और आईसीएस अफसर दिये। लेकिन यह सब अंग्रेजों का कर्ज था, कोई नया या मौलिक समन्वय नहीं, जैसा कि दो सभ्यताओं के मिलन से पैदा होता है। अगर ऐसा मौलिक समन्वय होता, तो वह यूरोप की संस्कृति धारा को प्रचुर बनाने वाला एक नया योगदान माना जाता। इस्लाम शायद हमारा कुछ कर्ज मंजूर कर ले, लेकिन यूरोप हमारा कोई कर्ज मंजूर नहीं करेगा। हमने लिया ही है, दिया कुछ नहीं।

भारत की जमीन पर जितना अधिक रासायनिक खाद डाला गया है, उतनी ही उसकी उर्वरता नष्ट हुई है। विदेशी भाषाएं रासायनिक खाद हैं। विदेशी आक्रमण रासायनिक खाद हैं। उनके बूते पर कुछ दिन यहां फसल लहलहाती हैं। लेकिन आज हम आजाद हैं और सोच रहे हैं कि बंजर जमीन पर कैसे खेती करें। आक्रमण तो हम मांग नहीं सकते। इसलिए हम विदेशी पैसा, विदेशी विशेषज्ञ, विदेशी साज-सामान, विदेशी संस्कृति मांग रहे हैं। अंग्रेजी हटने का संबंध इन सब चीजों के हटने से है और भारत की मौलिक प्रभुता (या मूढ़ता) के मुखरित होने से है।

गीता में लिखा है : स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः। क्या पराई भाषा की सरस्वती कंठ में आसीन करने के बजाय अपनी भाषा में जैसे-तैसे तुतलाना ज्यादा अच्छा है।

दरअसल भारत के सामने सवाल भाषा से कहीं अधिक बड़ा है। सवाल यह है कि अपनी मुक्ति, अपनी सार्थकता हम अपने अंदर खोजें या बाहर खोजें। बाहर तो खैर कोई मुक्ति खोज ही नहीं सकता। होता यह है कि बाहर वाले अपनी मुक्ति भारत के माध्यम से खोज लेते हैं। तीन हजार साल से यह हो रहा है। लेकिन अब १५ अगस्त, १९४७ से हम पर यह जवाबदारी आई है कि अपनी सार्थकता हम स्वयं खोजें। यह काम बड़ा दुष्कर और अटपटा है, मानो मछली को कह दिया गया हो कि वह हवा में सांस लेना सीखें। हमारी सारी छटपटाहट का रहस्य यही है।

इसलिए इतने प्राचीन इतिहास के बावजूद हमें मानो नये सिरे से शुरू करना है। अब तक हम चांद की तरह थे, जो बाहरी प्रकाश में चमकता है। अब हमें तय करना है कि रोशनी उधार लेते रहें या समूचे अंधकारमय हो जाना पसंद करें, ताकि आगे-पीछे आत्मप्रकाशित हो सकें।■

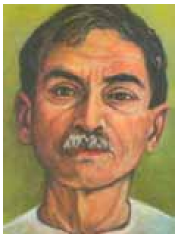

प्रेमचंद

जन्म : ३१ जुलाई १८८०, लमही, वाराणसी - निधन : ८ अक्टूबर १९३६

उपन्यास : गोदान, गबन, सेवा सदन, प्रतिज्ञा, प्रेमाश्रम, निर्मला, प्रेमा, कायाकल्प, रंगभूमि, कर्मभूमि, मनोरमा, वरदान, मंगलसूत्र (असमाप्त)। कहानी : सोज़े वतन, मानसरोवर (आठ खंड), प्रेमचंद की असंकलित कहानियाँ, प्रेमचंद की शेष रचनाएँ। नाटक : कर्बला, वरदान। बाल साहित्य : रामकथा, कुत्ते की कहानी। विचार : प्रेमचंद : विविध प्रसंग, प्रेमचंद के विचार (तीन खंडों में)। अनुवाद : आजाद-कथा (उर्दू से, रतननाथ सरशार), पिता के पत्र पुत्री के नाम (अंग्रेजी से, जवाहरलाल नेहरू)। संपादन : मर्यादा, माधुरी, हंस, जागरण।

कृति-अंश

प्रेमचन्द हिन्दी के सर्वाधिक लोकप्रिय उपन्यासकार हैं और उनकी अनेक रचनाओं की गणना कालजयी साहित्य के अन्तर्गत की जाती है। 'गोदान' तो उनका सर्वश्रेष्ठ उपन्यास है ही, 'गबन', 'निर्मला', 'रंगभूमि', 'सेवा सदन' तथा अनेकों कहानियाँ हिन्दी साहित्य का अमर अंग बन गई हैं। इनके अनुवाद भी भारत की सभी प्रमुख तथा अनेक विदेशी भाषाओं में हुए हैं। इन रचनाओं में उन्होंने जो समस्याएँ उठाईं तथा स्त्री-पुरुषों के चरित्र खींचे, वे आज भी उसी प्रकार सार्थक हैं जैसे वे अपने समय थे और भविष्य में बने रहेंगे। भारतीय समाज के सभी वर्गों का चित्रण बहुत मार्मिक है विशेषकर ग्रामीण किसानों का, जिनके साथ वे एक प्रकार से आत्मसात ही हो गये थे। 'गोदान' प्रेमचन्द का सर्वाधिक महत्वपूर्ण उपन्यास है। इसमें ग्रामीण समाज के अतिरिक्त नगरों के समाज और उनकी समस्याओं का उन्होंने बहुत मार्मिक चित्रण किया है। उपन्यास के कुछ अंश :

गोदान

होरीराम ने दोनों बैलों को सानी-पानी देकर अपनी स्त्री धनिया से कहा- 'गोबर को ऊख गोड़ने भेज देना। मैं न जाने कब लौटूं। जरा मेरी लाठी दे दो।'

धनिया के हाथ गोबर से भरे थे। उपले थापकर आयी थी। बोली- 'अरे, कुछ-रस पानी तो कर लो। जल्दी क्या है?'

होरी ने अपनी झुर्रियों से भरे हुए माथे को सिकोड़कर कहा- 'तुझे रस-पानी की पड़ी है, मुझे यह चिन्ता है कि अबेर हो गई तो मालिक से भेंट न होगी। असनान-पूजा करने लगेंगे, तो घण्टों बैठे बीत जायेगा।'

'इसी से तो कहती हूं कि कुछ जलपान कर लो। और आज न जाओगे तो कौन हरज होगा! अभी तो परसों गये थे।'

'तू जो बात नहीं समझती उसमें टाँग क्यों अड़ाती है भाई! मेरी लाठी दे दे और अपना काम देख। यह इसी मिलते-जुलते रहने का परसाद है कि अब तक जान बची हुई है, नहीं कहीं पता न लगता किधर गये। गाँव में इतने आदमी तो हैं, किस पर बेदखली नहीं आयी, किस पर कुड़की नहीं आयी। जब दूसरे के पाँव-तले अपनी गर्दन दबी हुई है, तो उन पावों को सहलाने में ही कुशल है!'

धनिया इतनी व्यवहार-कुशल न थी। उसका विचार था कि हमने जमींदार के खेत जोते हैं, तो वह अपना लगान ही तो लेगा। उसकी खुशामद क्यों करें, उसके तलवे क्यों सहलाएँ। यद्यपि अपने विवाहित जीवन के इन बीस बरसों में उसे अच्छी तरह अनुभव हो गया कि चाहे कितनी ही कतर-ब्योंत करो, कितना ही पेट-तन काटो, चाहे एक-एक कौड़ी को दाँत से पकड़ो; मगर लगान बेबाक होना मुश्किल है। फिर वह भी हार न मानती थी, और इस विषय पर स्त्री-पुरुष में आये दिन संग्राम छिड़ा रहता था। उसकी छः सन्तानों में अब केवल तीन जिन्दा हैं, एक लड़का गोबर कोई सोलह साल का, और दो लड़कियाँ सोना और रूपा, बारह और आठ साल की। तीन लड़के बचपन ही में मर गए। उसका मन आज भी कहता था, अगर उनकी दवादारू होती तो वे बच जाते; पर वह एक धेले की दवा भी न मँगवा सकी थी। उसकी ही उम्र अभी क्या थी। छत्तीसवाँ ही साल तो था; पर सारे बाल पक गये थे, चेहरे पर झुर्रियाँ पड़ गई थीं। सारी देह ढल गई थी, वह सुन्दर गेहुँआ रंग सँवला गया था, और आँखों से भी कम सूझने लगा था। पेट की चिन्ता ही के कारण तो। कभी तो जीवन का सुख न मिला। इस चिरस्थाई जीर्णावस्था ने उसके आत्मसम्मान को उदासीनता का रूप दे दिया था। जिस गृहस्थी में पेट की रोटियाँ भी न मिलें, उसके लिए इतनी खुशामद क्यों? इस परिस्थिति में उसका मन बराबर विद्रोह किया करता था, और दो-चार घुड़कियाँ खा लेने पर ही उसे यथार्थ का ज्ञान होता था। उसने परास्त होकर होरी की लाठी, मिरजई, जूते, पगड़ी और तमाखू का बटुआ लाकर सामने पटक दिए। होरी ने उसकी ओर आँखें तेरकर कहा- 'क्या ससुराल जाना है, जो पाँचों पोसाक लायी है? ससुराल में भी तो जवान साली-सरहज नहीं बैठी है, जिसे जाकर दिखाऊँ।'

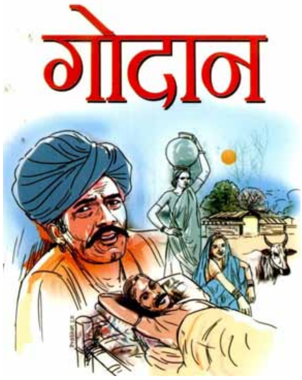

होरी के गहरे साँवले पिचके हुए चेहरे पर मुस्कुराहट की

मृदुता झलक पड़ी। धनिया ने लजाते हुए कहा- 'ऐसे ही तो बड़ी सजीले जवान हो कि साली-सरहज तुम्हें देखकर रीझ जायँगी।'

होरी फटी हुई मिरजई को बड़ी सावधानी से तह करके खाट पर रखते हुए कहा- 'तो क्या तू समझती है, मैं बूढ़ा हो गया? अभी तो चालीस भी नहीं हुए। मर्द साठे पर पाठे होते हैं।'

'जाकर सीसे में मुँह देखो। तुम-जैसे मर्द साठे पर पाठे नहीं होते। दूध-घी अंजन लगाने तक को तो मिलता नहीं, पाठे होंगे! तुम्हारी दशा देख-देखकर तो मैं और भी सूखी जाती हूँ कि भगवान यह बुढ़ापा कैसे कटेगा? किसके द्वार पर भीख माँगेंगे?'

होरी की वह क्षणिक मृदुता यथार्थ की इस आँच में जैसे झुलस गई। लकड़ी सँभालता हुआ बोला- 'साठे तक पहुँचने की नौबत न आने पाएगी धनिया ! इसके पहले ही चल देंगे।'

धनिया ने तिरस्कार किया- 'अच्छा रहने दो, मत अशुभ मुँह से निकालो। तुमसे कोई अच्छी बात भी कहे, तो लगते हो कोसने।'

होरी कन्धे पर लाठी रखकर घर से निकला, तो धनिया द्वार पर खड़ी उसे देर तक देखती रही। उसके इन निराशा-भरे शब्दों ने धनिया के चोट खाए हुए हृदय में आतंकमय कम्पन-सा डाल दिया था। वह जैसे अपने नारीत्व के सम्पूर्ण तप और व्रत से अपनी पति को अभय-दान दे रही थी। उसके अन्तःकरण से जैसे आशीर्वादों का ब्यूह-सा निकलकर होरी को अपने अन्दर छिपाये लेता था। विपन्नता के इस अथाह सागर में सोहाग ही वह तृण था, जिसे पकड़े हुए वह सागर को पार कर रही थी। इन असंगत शब्दों ने यथार्थ के निकट होने पर भी, मानो झटका देकर उसके हाथ से वह तिनके का सहारा छीन लेना चाहा, बल्कि यथार्थ के निकट होने के कारण ही उनमें इतनी वेदना-शक्ति आ गई थी। काना कहने से काने को दुःख होता है, वह क्या दो आँखों वाले आदमी को हो सकता है?

होरी कदम बढ़ाये चला जाता था। पगडण्डी के दोनों ओर ऊख के पौधों की लहराती हुई हरियाली देखकर उसने मन में कहा-भगवान् कहीं गौ से बरखा कर दें और डाँड़ी भी सुभीते से रहे, तो एक गाय जरूर लेगा। देशी गायें न दूध दें, न उनके बछवे ही किसी के काम हों। बहुत हुआ तो तेली के कोल्हू में चले। नहीं, वह पछाँई गाय लेगा। उसकी खूब सेवा करेगा। कुछ नहीं तो चार-पांच सेर दूध होगा। गोबर के लिए तरस-तरस कर रह जाता है। इस उमिर में न खाया-पिया, तो फिर कब खायेगा? साल-भर भी दूध पी ले, तो देखने लायक हो जाय। बछवे भी अच्छे बैल निकलेंगे। दो सौ से कम की गोईं न होगी। फिर, गऊ से ही द्वार की सोभा है। सबेरे-सबेरे गऊ के दर्शन हो जायँ तो क्या कहना! न जाने कब यह साध पूरी होगी, कब वह शुभ दिन आयेगा!

हर एक गृहस्थ की भाँति होरी के मन में भी गऊ की लालसा चिरकाल से संचित चली आती थी। यही उसके जीवन का सबसे बड़ा स्वप्न, सबसे बड़ी साध थी। बैंक सूद से चैन करके या जमीन खरीदने या महल बनवाने की विशाल आकांक्षाएँ उसके नन्हें-से-हृदय में कैसे समातीं!

जेठ का सूर्य आमों के झुरमुट से निकलकर आकाश पर छायी हुई लालिमा को अपने रजत-प्रताप से तेज प्रदान करता हुआ ऊपर चढ़ रहा था और हवा में गर्मी आने लगी थी। दोनों ओर खेतों में काम करने वाले किसान उसे देखकर राम-राम करते और सम्मान-भाव से चिलम पीने का निमन्त्रण देते थे; पर होरी को इतना अवकाश कहाँ था? उसके अन्दर बैठी हुई सम्मान-लालसा ऐसा आदर पाकर उसके सूखे मुख पर गर्व की झलक पैदा कर रही थी।

मालिकों से मिलते-जुलते रहने ही का तो यह प्रसाद है कि सब उसका आदर करते हैं, नहीं उसे कौन पूछता? पाँच बीघे के किसान की बिसात ही क्या? यह कम आदर नहीं है कि तीन-तीन, चार-चार हलवाले महतो भी उसके सामने सिर झुकाते हैं।

अब वह खेतों के बीच की पगडण्डी छोड़कर एक खलेटी में आ गया था, जहाँ बरसात में पानी भर जाने के कारण तरी रहती थी और जेठ में कुछ हरियाली नजर आती थी। आस-पास के गाँवों की गउएँ यहाँ चरने आया करती थीं। उस समय में भी यहाँ की हवा में कुछ ताजगी और ठंडक थी। होरी ने दो-तीन साँसे जोर से लीं। उसके जी में आया, कुछ देर यहीं बैठ जाय। दिन-भर तो लू-लपट में मरना है ही। कई किसान इस गड्ढे का पट्टा लिखाने को तैयार थे। अच्छी रकम देते थे; पर ईश्वर भला करे राय साहब का जिन्होंने साफ कह दिया यह जमीन जानवरों की चराई के लिए छोड़ दी गई है और किसी दाम पर न उठायी जाएगी। कोई स्वार्थी जमींदार होता, तो कहता गायें जायँ भाड़ में, हमें रुपये मिलते हैं, क्यों छोड़ें? पर राय साहब अभी तक पुरानी मर्यादा निभाते आते हैं। जो मालिक प्रजा को न पाले, वह भी कोई आदमी है?

सहसा उसने देखा, भोला अपनी गायें इसी तरफ आ रहा है। भोला इसी गाँव से मिले हुए पुरवे का ग्वाला था और दूध-मक्खन का व्यवसाय करता था। अच्छा दाम मिल जाने पर कभी-कभी किसानों के हाथ गायें बेच भी देता था। होरी का मन उन गायों को देखकर ललचा गया। अगर भोला वह आगे वाली गाय उसे दे तो क्या कहना! रुपये आगे-पीछे देता रहेगा। वह जानता था, घर में रुपये नहीं हैं। अभी तक लगान नहीं चुकाया जा सका, बिसेसर साह का भी देना बाकी है, जिस पर आने रुपये का सूद चढ़ रहा है।■

अमृतलाल नागर

जन्म : १७ अगस्त १९१६, गोकुलपुरा, आगरा - निधन : २३ फरवरी, १९९० । मुख्य कृतियाँ - उपन्यास : महाकाल, बूँद और समुद्र, शतरंज के मोहरे, सुहाग के नुपूर, अमृत और विष, सात घूँघट वाला मुखड़ा, एकदा नैमिषारण्ये, मानस का हंस, नाच्यौ बहुत गोपाल, खंजन नयन, बिखरे तिनके, अग्निगर्भा, करवट, पीढ़ियाँ । कहानी संग्रह : वाटिका, अवशेष, तुलाराम शास्त्री, आदमी, नही! नही!, पाँचवा दस्ता, एक दिल हजार दास्ताँ, एटम बम, पीपल की परी, कालदंड की चोर, भारत पुत्र नौरंगीलाल, सिकंदर हार गया, एक दिल हजार अफ़साने । नाटक : युगावतार, बात की बात, चंदन वन, चक्करदार सीढ़ियाँ और अँधेरा, उतार चढ़ाव, नुक्कड़ पर, चढ़त न दूजो रंग। व्यंग्य : नवाबी मसनद, सेठ बाँकेमल, कृपया दाएँ चलिए, हम फिदाये लखनऊ, चकल्लस । सोवियत लैंड नेहरू पुरस्कार, साहित्य अकादेमी पुरस्कार, संगीत नाटक अकादमी पुरस्कार,भारत भारती सम्मान से पुरस्कृत।

कृति-अंश

यशस्वी साहित्यकार अमृतलाल नागर का चर्चित उपन्यास 'खंजन नयन' महाकवि सूरदास के गरिमामय जीवन की सार्थक प्रस्तुति है। सूरदास के जीवन के विभिन्न पक्षों का चित्रण इस कृति के माध्यम से किया गया है। सूरदास के व्यक्तित्व को नागर जी ने तीन स्तरों पर प्रस्तुत किया है- तल, अतल और सुतल और महाकवि को सूरज, सूरस्वामी, सूरश्याम, सूरदास अनेक रूप दिये हैं। अन्त में जहाँ ये तीनों रूप समरस होते हैं वहाँ सूरदास राधामय हो जाते हैं। उपन्यास के कुछ अंश :

खंजन नयन

वृन्दावन से लगभग दो कोस पहले ही पानीगांव के पास वाले किनारे पर खड़े चार-छह लोगों ने सुरीर से आती हुई नाव को हाथ हिला-हिलाकर अपने पास बुला लिया : 'मथुरा मती जइयों। आज खून की मल्हारें गाई जा रही हैं वांपे...'

सुनकर नाव पर बैठी सवारियां सन्न रह गईं। उन्नीस-बीस जने थे; तीन को वृन्दावन उतरना था, बाकी सभी मथुरा जा रहे थे। सभी के होश-हवास सूली पर टंग गए।

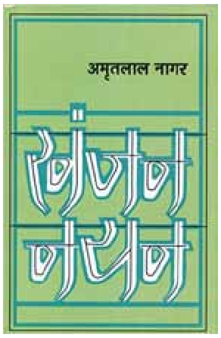

'आखिर बात क्या हुई भैयन ?'

'सुलतान के राज में मारकाट के काजे कभी कोऊ बात होवे है भला। त्यौहार कौ दिना, हमारी मां-बहन के माथे कौ सिंदूर आग की लपटों सौ उठ रयौ है चौराये पै...' फिर एक ही सांस में भद्दी से भद्दी गालियां कहने वाले युवक के मुंह से फूट पड़ीं। उसके नपुंसक क्रोध का अन्त विवशता के आंसुओं में हुआ।

नाव से करीब-करीब सभी लोग बातें सुनने के लिए किनारे पर आ गए थे, केवल एक अंधा नवयुवक और दो बुढियां ही बैठी रहीं। सावनी तीज का दिन। कुंआरियों-सुहागिनों का त्यौहार। पिछले आठ-नौ बरसों से चले आ रहे प्रलय काल में जिन सुहागवंतियों की ससुरालें मथुरा के आस-पास के गांवों और कस्बों में हैं वे तो तीज के दिन अपने मैके नहीं आ पाती हैं, पर शहर के भीतर आस-पास के मोहल्लों में या शहर से ले गाँवों में जिनके मैके-ससुराल हैं उनके दिलों में तीज का उल्लास, पत्थर पर हरियाली-सी उमग ही पड़ता है।

मृत्यु की भयानकता भी जीवन के सांस्कारिक उत्सव को जड़ नहीं बना सकी। हाथों में मेहंदियां रचीं, गुलगुले पके, झूले पड़े, कजरी-मल्हारें गाई जाने लगी :

ऊंची-ऊंची मथुरा जाके हरे-हरे बांस, आगे तो डेरा पठान को

सोने की गगरी रेसम लेजु, चंद्रावलि पानी नीकरी।
दूध में दूध पानी में पानी
धुवां कैसे पैर उठति आवे ज्वानी
आगे-आगे डेरा पठान के
घेरी चंद्रावली डेरे बीच...

इसी मल्हार पर घमासान मच गई। बौहरे खुन्नामल के घर घुसकर उनके कर्जदार पठान और उसके साथियों ने खूनी तीज मना डाली। न इज्ज़त बची न लक्ष्मी। गांव के लोग सामना करने आए तो मारकाट के शोर से पड़ोसी गांव की आग शहर में भी फैल गई। धर्म के नाम पर बदला लेने के लिए स्त्री और धन की लूट कुछ लोगों के लिए पुण्य कार्य बन गई। कुछ बरसों पहले सिकंदर सुल्तान ने जब गद्दी पर बैठने के बाद महावन से आकर मथुरा में पहली मारकाट मचाई थी तब जो परिवार जबरन मुसलमान बनाए गए थे वे ही इस समय शहर में सबसे अधिक आतंककारी हैं। मथुरा के सैकड़ों घरों में लाशें पड़ी हैं, अनेक मोहल्ले धू-धू कर जल रहे हैं। काज़ियों मुल्लाओं की जय-जयकर बोलकर, सुल्तान और दीन की हुचकियां ले लेकर नए मुसलमान गुंडे हिन्दू बस्तियां लूट रहे हैं। सरकारी अमला यों तो साथ नहीं दे रहा पर लूट की दौलत आखिर किसे बुरी लगती है। यों भी 'काफिरों का काबा' मथुरा और मथुरावासियों को बड़ी ओछी दृष्टि से देखा जा रहा था।

यह सब हाल-हवाल सुनकर मथुरा जाने वाली अठारह सवारियों में से आठ ने तो वहीं उतरकर आड़े-तिरछे रास्तों से अपने घरों को पहुंचने का निश्चय तुरंत कर लिया, बाकी

दस जने अजब ऊहापोह में पड़ गए। उनमें हाथरस के पंडित सीताराम गौड़ भी थे। नाव पर लौटकर अपने अंधे साथी से बोले : 'सूर्यनाथ, तुम्हारी भविष्यवाणी सत्य सिद्ध हुई...'

कालू केवट पास ही खड़ा था, पूछा : 'क्या इन अंधे सामी दी ने पैलेइ बता दीनी थी महाराज?'

अंधा सूरज मुंह उठाकर बोला : 'मैं क्या बताऊंगा, यह सब इन्हीं गुरु महाराज जी की ही कृपा है। दो घड़ी रात तक चढ़े तक सब ठीक हो जाएगा।'

'हां, हो तो जाएगा पर मेरे लिए रात में मथुरा ठहरने की समस्या होगी। बस्ती में प्रवेश करना कठिन है और घाटों पर रात में उल्लू बोलते हैं।'

'कोई नहीं रहता गुरु जी?'

'बहुत से घाटों पर साधु और गौमाता के कटे सिर टंगे हैं। कहीं जादू-टोने का भय उत्पन्न करके कि यहां आओगे तो चोटी कट जाएगी, दाढ़ी कट जाएगी घाट बंद कर दिए हैं। स्नान-पूजा, यज्ञ-कीर्तन सब कुछ लोप हो चुका है। हे हरि...' एक गहरी ठंडी सांस खींचकर सीताराम चुप हो गए।

'सभी घाटों पर नहाने की मनाही है गुरुजी?'

'पिछले वर्ष से विश्रान्त घाट से यह प्रतिबंध हट गया है। एक दाक्षिणात्य ब्राह्मण युवक के तेज से यह चमत्कार संभव हुआ। पर अब भी बहुत से लोग भय के कारण नहीं जाते।'

'भय कैसा?'

'किसी यवन तांत्रिक ने वहां ऐसा यंत्र टांग रखा था कि उसके नीचे होकर निकलने वाले प्रत्येक हिंदू की शिखा कट जाती थी और उसे बलात् दूसरे धर्म का मान लिया जाता था। किंतु श्री बल्लभ भट्ट के आत्मबल ने उस यंत्र को निस्तेज कर दिया। वहां बैठकर उन्होंने भागवत भी बांची।'

अंधा सूरज उस विलक्षण महापुरुष के संबंध में सोचने लगा। यात्री अभी किनारे पर ही खड़े हुए बतिया रहे थे। नाव पर बैठी दोनों बुढ़ियां परस्पर सहानुभूति से लिलार के लेखों को कोस रही थीं। एक मथुरा की थी दूसरी गोवर्धन की। मथुरा वाली का पति अंधा था, वह बच्छवन के किसी नामी फकीर से असली ममीरे का सुर्मा लेने गई थी। गोवर्धन वाली बुढ़िया अपने बीमार भाई को देखने के लिए माठ गई थी। दो महीने बाद घर लौट रही है। उसे अपने पोते-पोतियों की बड़ी याद आ रही है। उनसे मिलने में इन दंगाइयों ने बिघन डाला। सत्यानास हो। जिन सुहागिनों मरियों ने तुरकों की मल्हारे गाईं उनका सत्यानास हुआ, और भी हो। गोवर्धन वाली के कोसनो पर अंधे सूरज को हंसी आ गई : तैने तो कोसनों का गोवर्धन ही उठा लिया है माई। आवाज थोड़ी नीचे उतार ले। किसी कंस-दूत के भनक पड़ गई तो यहीं मथुरा बन जाएगी।

बात से नाव पर सन्नाटा-सा छा गया। इतने में किनारे से छप-छप करता बल्लो अहीर नाव के पास तक आकर पानी में खड़ा हो गया, और केवट से बोला : 'कालू चौधरी, सिगरे लोगन की राय जई है कि मथुरा जी चलौ जाय। हंसा को नाव घाट तो पल्लीपार हैगो, कुशल ते पौंच जांगे। वां ते अपनी-अपनी गौं देख लिंगे सिगरे जने। नई होगा तो तेरी नाव पर ही काट लिंगे एक रात। यहाँ पड़े रहवे में काऊ मजौ नांय।'

केवट बोला : 'मेरी नाव पे तो नईं, पर रात में सोने को चौकस परबंध करा दूंगो। आधो-पौन पहर तौ अभी सोच-विचार में ही कट गयो है, पहर-डेढ़ पहर छान-निपटान में और निकाल लौ, फिर अंधेरे में सनसना सन सन करती निकल जायेगी मेरी जल परी और सीधी हंसा के घाट पै ही जा लगेगी।'

सात आठ खुनियों से सिल-बटियां निकल आईं, घोटने-छानने के अपने-अपने मोर्चे सध गए। मथुरा वृन्दावन में तो जमना जी में गोता लगाने को मिलता ही नहीं, सन्नाटा देखकर यह सुख और पुण्य क्यों न लूटा जाए। कुछ लोग अपनी धोतियाँ धोने-सुखाने में लगे।

'और जो सरकारी नाव डोलती हुई इधर आ गई अब हाल तो फिर यईं पे दूरी मथरा बन जायगी।' पंडित सीताराम ने सचेत किया।

'अरे नांय बने। मथुरा बिंदराबन में मनाही है बाकी पूरी जमनाजी में कहा इनके बाप को इजरौ है? और धमकी दिंगे तो हम काहू ते कम हैं। आठ-दस सिपाही होंगे नाव में। उनते निबटवे के काजे अकेली मैं ही बौत हूं पंडज्जी।'

सिलोटी पर डंड पेलते हुए वृजपाल ने अपने चलते हाथ तनिक थाम लिए और सिर तानकर कहा : 'आरे जाको नहानो होय वो मौज से नहावे-धोवे। हमारे रहते काहू ढेढ़नी के जाये की मगदूर नांय कि तुम्हारो बाल भी बांकौ कर सकैं। हम हैं अहीर ब्रजबासी। काहू ते कम नाय हैं। छोटी-सी सिलौटी पर बटिया के साधे हुए हाथ मात्तगयंद से फिर बढ़ चले। पास ही बैठे अन्धे सूरज ने बृजपाल के शब्दों को लेकर जांघ पर थपकियां देकर गाना शुरू किया :

हम अहीर ब्रजवासी लौग।
ऐसे चलौ हंसै नहिं कोऊ घर में बैठि करौ सुख भोग।
सिर पर कंस मधुपुरी बैठ्यों छिनकहि में करि डारै सोग।
फूंकि-फूंकि धरनी पग धारौ महाकठिन है समौ अजोग।

अंधे नवयुवक के स्वर में करुणा और चेतावनी का ऐसा स्पर्श था कि आस-पास बैठे किसी का हिया हिले बिना न बच सका। 'जीता रह मेरा भैया। अरे तेरी आवाज तो तुरक पठानन की तलावार तेऊ गहरौ घाव करै है। कहां ते आय रौ ए भगत।' बड़ी-बड़ी सफेद गलमुच्छों वाले तोंदियल बूढ़े गनेसी महाराज ने पूछा। ■

फणीश्वरनाथ रेणु

जन्म : ४ मार्च १९२१, औराही हिंगना, अररिय, बिहार - निधन : ११ अप्रैल १९७७

मुख्य कृतियाँ - उपन्यास : मैला आँचल, परती परिकथा, जुलूस, दीर्घतपा, कितने चौराहे, पलटू बाबू रोड। कहानी संग्रह : एक आदिम रात्रि की महक, ठुमरी, अगिनखोर, अच्छे आदमी। संस्मरण : ऋणजल-धनजल, श्रुत अश्रुत पूर्वे, आत्म परिचय, वनतुलसी की गंध, समय की शिला पर। रिपोर्ताज : नेपाली क्रांतिकथा। ग्रंथावली : फणीश्वरनाथ रेणु ग्रंथावली।

कृति-अंश

मैला आँचल हिन्दी का श्रेष्ठ और सशक्त आंचलिक उपन्यास है। नेपाल की सीमा से सटे उत्तर-पूर्वी बिहार के एक पिछड़े ग्रामीण अंचल को पृष्ठभूमि बनाकर रेणु ने इसमें वहाँ के जीवन का, जिससे वह स्वयं ही घनिष्ट रूप से जुड़े हुए थे, अत्यन्त जीवन्त और मुखर चित्रण किया है। मैला आँचल का कथानक एक युवा डॉक्टर है जो अपनी शिक्षा पूरी करने के बाद पिछड़े गाँव को अपने कार्य-क्षेत्र के रूप में चुनता है तथा इसी क्रम में ग्रामीण जीवन के पिछड़ेपन, दुःख-दैन्य, अभाव, अज्ञान, अन्धविश्वास के साथ-साथ तरह-तरह के सामाजिक शोषण-चक्रों में फँसी हुई जनता की पीड़ाओं और संघर्षों से भी उसका साक्षात्कार होता है। कथा का अन्त इस आशामय संकेत के साथ होता है कि युगों से सोई हुई ग्राम-चेतना तेजी से जाग रही है। कथाशिल्पी फणीश्वरनाथ रेणु की इस युगान्तकारी औपन्यासिक कृति में कथाशिल्प के साथ-साथ भाषाशिल्प और शैलीशिल्प का विलक्षण सामंजस्य है जो जितना सहज-स्वाभाविक है, उतना ही प्रभावकारी और मोहक भी। मैला आँचल, हिन्दी का श्रेष्ठ और सशक्त आंचलिक उपन्यास है। उपन्यास के कुछ अंश :

मैला आँचल

गाँव में यह खबर बिजली की तरह फैल गई - मलेटरी ने बहरा चेथरू को गिरफ्तार कर लिया है और लोबिनलाल के कुँए से बाल्टी खोलकर ले गए हैं। यद्यपि १९४२ के जन-आन्दोलन के समय इस गाँव में न तो फौजियों का कोई उत्पात हुआ था और न आन्दोलन के समय इस गाँव तक पहुँच पाई थी। किन्तु जिले-भर की घटनाओं की खबर अफवाहों के रूप में यहाँ तक आकर जरूर पहुँची थी। मोगलाही टीशन पर गोरा सिपाही एक मोदी की बेटी को उठाकर ले गए। इसी को लेकर सिख और गोरे सिपाहियों में लड़ाई हो गई, गोली चल गई। ढोलबाजा में पूरे गाँव को घेरकर आग लगा दी गई।

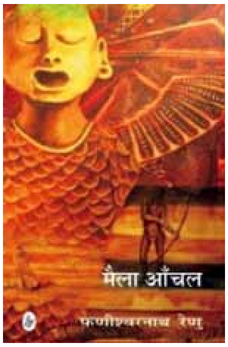

एक बच्चा नहीं निकल सका। मुसहरू के ससुर ने अपनी आँखों से देखा था- ठीक आग में भूनी गई मछलियों की तरह लोगों की लाशें महीनों पड़ी रहीं, कौआ भी नहीं खा सकता था; मलेटरी का पहरा था। मुसहरू के ससुर का भतीजा फारबिन का खानसामा है; वह झूठ बोलेगा? पूरे चार साल के बाद अब इस गाँव की बारी आई है। दुहाई माँ काली माँ काली! दुहाई बाबा लरसिंह!

यह सब गुअरटोली के बलिया की बदौलत हो रहा है।

बिरंचीदास ने हिम्मत से काम लिया; आँगन से निकलकर चारों ओर देखा और मालिकटोला की ओर दौड़ा। मालिक तहसीलदार विश्वनाथप्रसाद भी सुनकर घबड़ा गए, 'एलोबिन बाल्टी कहाँ से लाया था? जरूर चोरी की बाल्टी होगी! साले सब चोरी करेंगे। और गाँव को बदनाम करेंगे।'

मालिकटोले से यह खबर राजपूतटोली पहुँची-कायस्थ टोली के विश्वनाथप्रसाद और ततमाटोली के बिरंची को मलेटरी के सिपाही पकड़कर ले गए हैं। ठाकुर रामकिशन सिंह बोले, 'इस बार तहसीलदारी का मजा निकलेगा। जरूर जमींदार लगान वसूल कर खा गया है। अब बड़े-घर की हवा खाएँगे बच्चू!'

यादवटोली के लोगों ने खबर सुनते ही बलिया उर्फ बालदेव को गिरफ्तार कर लिया। भागने न पाए! रस्सी से बाँधी! पहले ही कहा था कि यह एक दिन सारे गाँव को बँधवाएगा।

तहसीलदार विश्वनाथप्रसाद एक सेर घी, पाँच सेर बासमती चावल और एक खस्सी लेकर डरते हुए मलेटरीवालों को डाली पहुँचाने चले, बिरंची को साथ ले लिया। बोले, 'हिसाब लगाकर देख लो, पूरे पचास रुपए का सामान है। यह रुपया एक हफ्ता के अन्दर ही अपने टोले और लेबिन के टोले से वसूल कर जमा कर देना। तुम लोगों के चलते...'

मलेटरीवाले कोठी के बगीचे में हैं। बगीचे के पास पहुँचकर विश्वनथप्रसाद ने जेब से पलिया टोपी निकारकर पहन ली और कालीथान की ओर मुँह करके मां काली को प्रणाम किया, 'दुहाई माँ काली!'

बगीचे में पहुँचकर तहसीलदार साहब ने देखा, दो बैलगाड़ी हैं; बैल घास खा रहे हैं; मलेटरीवाले जमीन पर

भगवान ने शरीर दिया है, उच्च जाति में जन्म दिया है। इसी के बल पर बहुत बाबू-बबुआन, हाकिम हुक्काम और अमला-फैला से हेलमेल हुआ, जान-पहचान हुई। मौका पाते ही सलाम करके जोर से बोले, 'जै हो सरकार की! पबली को भलाय के वास्ते इतना दूर से कष्ट उठाकर आया है, और हम लोग हुजूर का कोई सेवा नहीं कर सके।

कम्बल बिछाकर बैठे हैं। ऐं... मुढ़ी फाँक रहे हैं! और बहरा चेथरू भी कम्बल पर ही बैठकर मूढ़ी फाँक रहा है!

'सलाम हुजूर!'

बिरंची ने सामान सिर से नीचे उतारकर झुककर सलाम किया, 'सलाम सरकार!' बकरा भी मेमिया उठा।

'आ रे, यह क्या है? आप कौन हैं?' एक मोटे साहब ने पूछा।

'हुजूर, ताबेदार राजा पारबंगा का तहसीलदार है, मीनापुर सर्किल का।'

'ओ, आप तहसीलदार हैं! ठीक बात! हम लोग डिस्ट्रिक्ट बोर्ड का आदमी है। यहाँ पर एक मैलेरिया सेंटर बनेगा। ऊपर से हुकुम आया है, यही बागान का जमीन में। मार्टिनसाहब डिस्ट्रिक्ट बोर्ड को यह जमीन बहुत पहले दे दिया।'

तहसीलदार साहब फिर एक बार सलाम करके बैठ गए। बिरंची हाथ जोड़े खड़ा रहा।

राजपूतटोली के रामकिरपालसिंह जब कोठी के बगीचे में पहुँचे तो उन्होंने देखा कि बगीचे के पच्छिमवाली जमीन की पैमाइश हो रही है; कुछ लोग जरीब की कड़ी खींच रहे हैं, टोपावाले एक साहब तहसीलदार साहब से हँस-हँसकर बातचीत कर रहे हैं। और अन्त में यादवटोली के लोग बालदेव के हाथ और कमर में रस्सी बाँधकर हो-हल्ला मचाते हुए आये। उसकी कमर में बँधी रस्सी को सभी पकड़े हुए हैं। फिराकी-सुराजी को पकड़ने वालों को सरकार बहादुर की ओर से इनाम मिलता है- एक हजार, दो हजार, पाँच हजार! साहब तो देखते ही गुस्सा हो गए, 'क्या बात है? इसको क्यों बाँधकर लाया है? इसने क्या किया है?'

'हुजूर, यह सुराजी बालदेव गोप है। दो साल जेहल खटकर आया है; इस गाँव का नहीं, चन्नपट्टी का है। यहाँ मौसी के यहाँ आया है। खध्धड़ पहनता है, जैहिन्न बोलता है।'

'तो इसको बाँधा है काहे?'

'अरे बालदेव!' साहब के किरानी ने बालदेव को पहचान लिया, 'अरे, यह तो बालदेव है। सर, रामकृष्ण कांग्रेस आश्रम का कार्यकर्ता है; बड़ा बहादुर है।'

यादवों के बन्धन से मुक्ति पाकर बालदेव ने साहब और किरानी को बारी-बारी से 'जाय हिन्द' किया। साहब ने हँसते हुए कहा, 'आपका गाँव में मलेरिया सेंटर खुल रहा है। खूब डाक्टर आ रहा है। डिस्ट्रिक्ट बोर्ड का तरफ से मकान बनेगा। लेकिन बाकी काम तो आप लोगों की मदद से ही होगा।'

तहसीलदार साहब ने जमींदार खाते और नक्शे को तजवीज करके कहा, 'हजूर जमीन एक एकड़ दस डिसमिल है।'

ठाकुर रामकिरपाल को अब तक साहब को सलाम करने का भी मौका नहीं मिला था। विश्वनाथप्रसाद ने बाजी मार ली। जिन्दगी में पहली बार सिंहजी को अपनी निरक्षता पर ग्लानि हुई। सचमुच विद्या की महिमा बड़ी है।

लेकिन भगवान ने शरीर दिया है, उच्च जाति में जन्म दिया है। इसी के बल पर बहुत बाबू-बबुआन, हाकिम हुक्काम और अमला-फैला से हेलमेल हुआ, जान-पहचान हुई। मौका पाते ही सलाम करके जोर से बोले, 'जै हो सरकार की! पबली को भलाय के वास्ते इतना दूर से कष्ट उठाकर आया है, और हम लोग हुजूर का कोई सेवा नहीं कर सके। गुसाईं जी रमैन में कहिन हैं- धन्य भाग प्रभु दरशन दीन्हा...' हुजूर सेवक का नाम रामकिरनपाल सिंघ वल्द गरीबनेवाजसिंह, मोत्ताफा, जात राजपूत मोकाम गढ़बुन्देल राजपूत हाल मोकाम मेरीगंज।'

'सिंह जी हमारा कोई सेवा नहीं चाहिए। सेवा के वास्ते मैलेरिया सेंटर खुल रहा है। इसी में मदद कीजिए सब मिलाकर। यही सबसे बड़ा सेवा है।' साहब हँसते हुए बोले।

यादवटोली के लोग एक-एक कर नजर बचाकर, नौ-दो-ग्यारह हो चुके थे। उन्हें डर था कि बालदेव को बाँधकर लानेवालों का साहब चालान करेंगे।

साहब ने चलते समय कहा, 'सात दिन के अन्दर ही डिस्ट्रिक्ट बोर्ड का मिस्तिरी लोग आवेगा। आप लोग बाँस, खढ़, सुतली और दूसरा दरकारी चीज का इन्तजाम कर देगा। तहलीलदार साहब, आप हैं, बालदेवप्रसाद तो देश का सेवक ही है, और सिंह जी हैं। आप हाथ जोड़कर मिलकर कीजिए।'

सबने हाथ जोड़कर, गर्दन झुकाकर स्वीकार किया। साहब दलबल के साथ चले खस्सी मेमिया रहा था। बालदेव गाड़ी के पीछे-पीछे गाँव कर गया।

बालदेव ने लौटकर लोगों से कहा, 'डिस्टीबोट के बंगाली आफसियरबाबू थे परफुल्लो बनरजी, और उनका किरानी जीत्तनबाबू, पहले कांग्रेस आफिस के किरानी थे।' ■

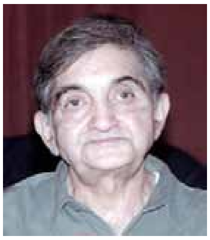

निर्मल वर्मा

(३ अप्रैल १९२९ - २५ अक्तूबर २००५)

हिन्दी के आधुनिक कथाकारों में एक मूर्धन्य कथाकार और पत्रकार। शिमला में जन्मे निर्मल वर्मा को मूर्तिदेवी पुरस्कार (१९९५), साहित्य अकादमी पुरस्कार (१९८५) उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान पुरस्कार और ज्ञानपीठ पुरस्कार तथा पद्म भूषण से सम्मानित किया गया था। दिल्ली के सेंट स्टीफेंस कालेज से इतिहास में एमए करने के बाद कुछ दिनों तक उन्होंने अध्यापन किया। १९५९ से प्राग (चेकोस्लोवाकिया) के प्राच्य विद्या संस्थान में सात वर्ष तक रहे। रात का रिपोर्टर, एक चिथड़ा सुख, लाल टीन की छत और वे दिन उनके बहुचर्चित उपन्यास हैं। सौ से अधिक कहानियाँ कई संग्रहों में प्रकाशित हुई। जिनमें 'परिंदे', 'कौवे और काला पानी', 'बीच बहस में', 'जलती झाड़ी' आदि प्रमुख हैं। 'धुंध से उठती धुन' और 'चीड़ों पर चाँदनी' उनके यात्रा वृतांत हैं।

कृति-अंश

हिन्दी कहानी को निर्विवाद रूप से एक नई कथा-भाषा प्रदान करने वाले अग्रणी कथाकार निर्मल वर्मा की साहित्यिक संवेदना एक जादुई लालटेन की तरह पाठकों के मानस पर प्रभाव डालती है। प्रायः सभी आलोचक इस बात पर एकमत हैं कि समकालीन कथा-साहित्य को उन्होंने एक निर्णायक मोड़ दिया है। लाल टीन की छत, उनकी सृजनात्मक यात्रा का एक प्रस्थान बिन्दु है जिसे उन्होंने उम्र के एक खास समय पर फोकस किया है। बचपन के अन्तिम कगार से किशोरावस्था के रूखे पाट पर बहता हुआ समय, जहाँ पहाड़ों के अलावा कुछ भी स्थिर नहीं है। यहाँ चीजों को मानवीय जीवन्तता को बचाए रखने की कोशिश ही उनके लिए रचना है। इस उपन्यास में आत्मा का अपना अकेलापन है तो देह की अपनी निजी और नंगी सच्चाइयों के साथ अकेले होने की यातना भी। यह काया नाम की एक ऐसी लड़की की कथा है जो सरदी की लम्बी, सूनी छुट्टियों में इधर-उधर भटकती रहती है और अपनी स्मृतियों के गुंजलक को खोलती रहती है। वह उम्र के ऐसे मोड़ पर है जहाँ बचपन पीछे छूट चुका है और आने वाला समय अनेक संकेतों और रहस्यों-सन्देशों से भरा हुआ है। लेकिन यह सिर्फ अकेली लड़की की ही नहीं बल्कि अकेली पड़ गयी संवेदना की भी कहानी है जहाँ पात्र अपने-अपने अँधेरे व्यक्तिगत कोनों में भटकते रहते हैं। यहाँ आतंक और सम्मोहन के ध्रुवों के बीच फैली अँधेरी भूल-भूलैया और स्मृतियों की रचनात्मक बुनावट में अनुपम तथा संवेदना के व्यापक अर्थ व अनुगूँजें अंतर्निहित हैं। उपन्यास के कुछ अंश :

लाल टीन की छत

सब तैयार था। बिस्तर, पोटलियाँ-एक सूटकेस। बाहर एक कुली खड़ा था, टट्टू की रास थामे-अनमने भाव से उस मकान को देख रहा था, जहाँ चार प्राणी गलियारे में खड़े थे- एक आदमी, एक औरत, एक बहुत छोटी औरत, जो बौनी-सी लगती थी- और उनसे जरा दूर एक गंजे सिरवाला लड़का, जो न आदमी जान पड़ता था, न बच्चा, लेकिन जिसका मुँह खुला था और एक अजीब खाली मुस्कान एक कान से दूसरे कान तक फैली थी।

मकान के ऊपर लाल टीन की छत थी। वह दुपहर की धूप में शीशे-सी चमक रही थी।

वह मार्च का महीना था।

कुछ देर तक सन्नाटा खिंचा रहा। सिर्फ टट्टू कभी-कभी अपना सिर हिला देता था। समान एक तरफ जमा होता गया।

अब शायद कोई चीज मकान से बाहर नहीं आएँगी, कुली ने सोचा। एक बार फिर आँखें गलियारे पर उठीं- चारों व्यक्ति वैसे ही रेलिंग के पीछे खड़े थे-बिना हिले-डुले, निश्चल, जैसे धूप में अपनी तस्वीर खिंचा रहे हों।

नीचे की मंजिल के सब दरवाजे बन्द थे। सामने एक छोटा-सा गेट था, जो बाग की तरफ खुलता था। गेट पर ही टीन का एक लेटर बॉक्स लटक रहा था, एक कील पर अटका हुआ, जैसे कोई मरा हुआ पक्षी औंधा झूल रहा हो! हवा चलती, तो वह हिलने लगता, एक धीमी-सी आवाज फैल जाती और टट्टू चौंककर चारों तरफ अपनी थकी, डबडबाई आँखों से देखने लगता।

हलकी-सी हलचल हुई तो कुली का ध्यान सहसा ऊपर बरामदे की तरफ गया। कमरे से एक लड़की बाहर निकली-उसके पीछे एक अधेड़ किस्म का आदमी जिसके कन्धों पर लम्बे बालों की चोटियाँ लटकी थी- वह एक छोटा-सा बैग उठाकर आ रहा था। कपड़ों से, चाल-ढाल से वह घर का नौकर दिखाई देता था। वह घिसटता हुआ चल रहा था, लड़की के पीछे-पीछे और उसके बोझिल कदमों के नीचे समूचा बरामदा हिल रहा था।

वे सीढ़ियाँ उतर रहे थे।

अन्तिम सीढ़ी पर पहुँचकर लड़की ठिठक गई। उसे कुछ याद आया, जैसे जल्दी में वह कोई चीज भूल गई हो। वह दुबारा सीढ़ियाँ चढ़ने लगी, बरामदे में आकर घर के पिछवाड़े की तरफ मुड़ गई-और एक क्षण में आँखों से लोप हो गई। कहाँ गई? कुली को विस्मय हुआ। टट्टू ने पूँछ हिलाई। नौकर

उसने आँखें खोल दीं, फिर मूँद लीं। समय बीतने लगा। उसने चादर का कोना कसकर भींच लिया। देह तन गई। एक क्षण के लिए भ्रम हुआ कि उसका सिर दरवाजे की तरफ सरक आया है, जहाँ उसके पैर थे। बेशक, यह भ्रम था। पैर और सिर एक साथ एक जगह नहीं हो सकते। वह हँसने लगी।

ने बैग जमीन पर रख दिया और मैली, मिचमिचाती, आँखों से पहाड़ों को देखने लगा, जो मार्च की धूप में निखर आए थे, बर्फ में धुले साफ और नंगे।

वह अपने कमरे के पीछे आई, जहाँ वह खड़ा था, एक छोटा-सा लड़का दो बड़ी-बड़ी चमकती, आँखें, माथे पर भूरे बालों का बवंडर। वह उसकी ओर देख रहा था।

मैं जा रही हूँ... लड़की के होंठ फड़फड़ाए, लेकिन स्वर बाहर नहीं आया-और लड़के ने पीठ मोड़ ली। वह पास आई, मन में आया, वापस लौट जाए, लेकिन वह वहाँ खड़ी रही, लड़के की साँसें सुनती हुई, देखती हुई, बीती सर्दियों की उसाँस-जो अब दोनों के बीच भरने लगी थी। उसने आँखें मूँद लीं-दुपहर की धूप में अचानक अँधेरा चला आया, बर्फ, हवा, लम्बी ठिठुरती छुट्टियाँ दुबारा लौटने लगीं।

काया, ओ री काया... नीचे से आवाज आई। वे उसे बुला रहे थे। वे प्रतीक्षा कर रहे थे- कुली टट्टू, गलियारे में खड़े चार व्यक्ति... और पहाड़ जो मकान के चारों तरफ थे, चुपचाप चमकते हुए।

एक

उसने आँखें खोल दीं, फिर मूँद लीं। समय बीतने लगा। उसने चादर का कोना कसकर भींच लिया। देह तन गई। एक क्षण के लिए भ्रम हुआ कि उसका सिर दरवाजे की तरफ सरक आया है, जहाँ उसके पैर थे। बेशक, यह भ्रम था। पैर और सिर एक साथ एक जगह नहीं हो सकते। वह हँसने लगी।

'हिश्! कुछ दिखाई दिया?'

'कुछ भी नहीं...'

'तुम हँस क्यों रही थीं?'

छोटे इन बातों को नहीं समझ पाते थे-फिर भी समझदारी में सिर हिला देते थे। बहाना करते थे। वह हर भेद के भीतर रहना चाहते थे। उन्हें जो बात बहुत दुखती थी, वह जब बर्दाश्त के बाहर चली जाती, तो वह एक रहस्य बन जाती थी। वह उससे खेल सकते थे। फिर उसे सहना मुमकिन हो जाता था।

वे जड़ होकर लेट रहे।

बाहर बरामदे का फर्श गुर्राया था। वह अँधेरे में चुपचाप गुर्राता रहता था। लकड़ी का फर्श था, जो जरा-सा भी दबाव सहन नहीं कर सकता था। यों समूची कोठी लकड़ी की बनी थी। जब कभी हवा ऊपर उठती, सब कमरों के ढाँचे हिलने लगते और बरामदा-वह हिलता इतना नहीं था, जितना गुर्राता था।

'कौन था काया?' छोटे ने पूछा।

'कोई नहीं', काया ने कहा, फिर भी भीतर एक पतली-सी उम्मीद कसने लगी। गले में गोमड़-सा उमड़ने लगा। जब से लामा गई थी, वे इसी तरह अपने को धोखा देते थे। वे उसके कमरे का दरवाजा भेड़ देते, लेकिन साँकल नहीं लगाते थे। जब रात हो जाती, दोनों अपने कमरे में साँस रोके लेटे रहते, इस टोह में जागते रहते, कब हवा से दरवाजा खटाक् से खुल जाएगा और लामा बाहर आएगी, बरामदे में घूमेगी, जैसे वह घूमती थी, उसे चाँदनी में देखेंगे। उन दिनों ढेर-सी चाँदनी पहाड़ों से आती थी। बरामदे में, छज्जे पर, छत के आर-पार एक चमकीली-सी रेत बिछ जाती। बरामदा जरा-सा भी हिलता तो दोनों के दिल हिलने लगते।

कोई आया था?

वह झटके से बिस्तर पर बैठ गई। कितने खटके थे, इतने बड़े मकान में कहीं न कहीं दरवाजा खटकता है, छत हिलती है... उन सबके बीच अपनी उम्मीद को पिरोना-अपने समय से एक-दूसरे समय में झाँकना, जो बीत चुका था लेकिन जिसे वह हर रात पुनर्जीवित करते थे- उनके बीच कुछ नहीं का संसार फैला था और वहाँ कुछ भी हो सकता था। इसलिए उनकी उम्मीद उतनी ही असीम थी, जितना उसका आतंक वे एक छोर से दूसरे छोर तक डोलते रहते।

'तुमने देखा नहीं-रोशनी जली थी।'

'कैसी रोशनी?'

'कमरे और गलियारे के बीच सीढ़ियों पर!'

'तुम पागल हो...' काया ने ठिठुरते हुए कहा, 'वह बाबू थे। मँगतू ने कमरे की बत्ती जलाई थी। गुसलखाने में नल खुला था-तुमने बहते पानी की आवाज नहीं सुनी?'

"बहते पानी की?' वह हँसने लगा डर से उसकी हँसी भी भयानक हो गई थी, 'तुम कितना झूठ बोलती हो काया। हद के बाहर झूठ!' ■

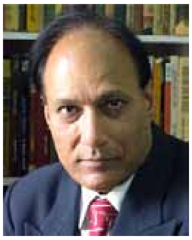

प्रो. सुरेश ऋतुपर्ण

२६ अक्तूबर,१९४८, मथुरा में जन्म। हिन्दी साहित्य में एम.ए., एम.लिट. एवं पी-एच.डी.। हिन्दू कॉलेज में अध्यापन। ट्रिनीडाड एवं टुबैगो में राजनयिक रहे। मॉरीशस के महात्मा गांधी संस्थान में अतिथि आचार्य के रूप में कार्य। तोक्यो यूनिवर्सिटी ऑफ फॉरेन स्टडीज में प्रोफेसर रहे। त्रिनिदाद एवं जापान में आयोजित विश्व हिंदी सम्मेलन से जुड़े रहे। दो दर्जन से अधिक पुस्तकें प्रकाशित। त्रैमासिक पत्रिका 'हिन्दी जगत' के संपादक। ट्रिनीडाड हिन्दी भूषण सम्मान, विदेश हिन्दी प्रसार सम्मान, फादर कॉमिल बुल्के सम्मान, सरस्वती साहित्य सम्मान से पुरस्कृत। दुनियाभर के अनेक देशों की यात्राएँ कीं। सम्प्रति - निदेशक, के.के.बिरला फाउण्डेशन।

सम्पर्क : २२१, प्रभावी अपार्टमेण्ट्स, सेक्टर-१०, प्लॉट-२९ बी, द्वारका, नई दिल्ली-७५ ईमेल - rituparna.suresh@gmail.com

कृति-विमर्श

जीवित रहेगा प्रमथ्यु

कभी-कभी इतिहास में ऐसे क्षण आते हैं और अक्सर आते हैं, जब जीवन के किसी मोड़ पर देखी, सुनी या पढ़ी रचना साक्षात् मूर्त हो जाती है। सामयिक और प्रासंगिक हो जाती है। उसके प्रतीक नूतन अर्थ के आलोक में भास्कर हो उठते हैं। जीवन को नई दृष्टि मिलती है, अनुभवों को नया अर्थ मिलता है। धर्मवीर भारती की एक लम्बी कविता 'प्रमथ्यु-गाथा' ऐसे ही नये अर्थ प्रकट करती है।

अंग्रेजी के प्रसिध्द कवि शैली की एक अमर कविता है 'प्रोमेथियस अनवाउंड'। उसी 'प्रोमेथियस' को भारती ने 'प्रमथ्यु' नाम दिया है। इस यूनानी पुराण कथा का नायक 'प्रमथ्यु' है जो जूपीटर या स्वर्ग के देवता के महलों में बन्दी 'अग्नि' को चुराकर पृथ्वी पर ले आता है ताकि पृथ्वी के साधारण जनों के जीवन में समाया अंधकार दूर हो सके।

यह एक जघन्य अपराध था और इसलिए इसकी सजा मिलनी भी अनिवार्य थी। फलतः जूपीटर ने 'प्रमथ्यु' को बेडियों में जकड़कर एक विशाल शिला खण्ड से बंधवा दिया और उस बूढ़े गिध्द को जिसने अग्नि लाने के लिए 'प्रमथ्यु' को उत्साहित किया था, इस कार्य पर लगा दिया कि वह 'प्रमथ्यु' के कंधे पर बैठ उसका हृदय नौंचता रहे। साथ ही साथ सजा की निरन्तरता बनाए रखने के लिए यह वरदान दे दिया कि हृदयपिण्ड का घाव निरन्तर भरता जाएगा। अर्थात् एक अन्तहीन दण्ड की यन्त्रणा भोगने के लिए उसे शापित भी कर दिया।

यह जन साधारण के लिए एक कौतुक भरा दृश्य था। भीड़ का हुजूम इस लोमहर्षक दृश्य को देखने के लिए उमड़ता रहता था। हृदय पिण्ड के नौंचे जाने और घाव के भरते जाने के करिश्मे को देखकर चकित-विस्मित होता रहता था। तमाशबीनों के झुण्ड के झुण्ड आते और चले जाते, लेकिन उनके मन में 'प्रमथ्यु' के प्रति कोई संवेदना नहीं थी। उसकी पीडा के प्रति कोई लगाव नहीं था। वे तमाशबीन थे और तमाशा देखने आते थे।

धर्मवीर भारती ने इसी पुरा-कथा को आजाद भारत के प्रथम दशक के बीत जाने के बाद की परिस्थितियों के संदर्भ में पुनः रूपायित किया था। संभवतः यह लम्बी कविता सन् १९५७-५९ के बीच कभी लिखी गई होगी क्योंकि यह कविता उनकी तीसरी काव्य-कृति 'सात गीतवर्ष' में संकलित है, जिसका प्रथम संस्करण सन् १९५९ में प्रकाशित हुआ था।

आज भारत जिस भ्रष्टाचार, बेईमानी, अहंकार, झूठ और अमानवीयता के अंधकार से आच्छादित है, उसमें प्रकाश की किरण खोजने का प्रयास करने की बात तो अनेक लोग करते हैं लेकिन कोशिश कोई नहीं करता है। ऐसे ही लोगों की ओर संकेत करते हुए भारती जी कहते हैं–

हम सब करिश्मों के प्यासे हैं/चाहता अगर तो हममें से हर एक व्यक्ति/अपने साहस से प्रमथ्यु हो सकता था/लेकिन हम डरते थे/ज्योति चाहते थे/पर दण्ड भोगने से हम डरते थे।

जब तक जन-साधारण के मन से यह डर नहीं निकलता, जब तक वे करिश्मा देखने से विमुख नहीं हो जाते, जब तक वे अपने विवेक के आधार पर निर्णय करना नहीं सीख जाते, तब तक कोई 'प्रमथ्यु' उनका उध्दार नहीं कर पाएगा। वस्तुतः हम सबको प्रमथ्यु बनना होगा।

आजादी के दिनों में महात्मा गांधी के नेतृत्व में सब कुछ निछावर कर देने वाला जन-साधारण आजादी मिलने के बाद के वर्षों में इतना अनुशासनहीन, आत्मनिष्ठ और स्वार्थी हो गया कि विश्वास नहीं होता। ऐसी ही मनःस्थिति को व्यक्त करने वाली 'प्रमथ्यु-गाथा' की ये पंक्तियाँ देखिए–

मूरख नहीं हैं जी/हम क्यों उठाते सिर/हम क्यों ये सब साहस करते व्यर्थ/अग्नि जिसे लाना था ले आया/अग्नि नहीं थी जब/तब हमने नहीं कहा/कि जाओ अग्नि लाओ तुम/और

'प्रमथ्यु' हमारी चेतना में छिपी परिवर्तन की शाश्वत आकांक्षा का प्रतीक है जो बार-बार सिर उठाती है। यह उस सर्जनात्मक शक्ति का प्रतीक भी है, जो रूढियों की बेडियों में जकड़ी होकर भी मुक्ति पाने के लिए कसमसाती है, तड़पती है।

अग्नि जब आई/हमने नहीं कहा कि अग्नि नहीं लेंगे हम।

देश की जनता का मनोबल कैसे धीरे-धीरे टूटता चला गया। सत्ता के दलालों और नेताओं की मिलीभगत ने भ्रष्टाचार का ऐसा मकड़जाल बुन दिया है कि उसमें फंसकर सभी कायरों की तरह हाथ पर हाथ धरकर बैठ गए। 'अग्नि' के माध्यम से जन-साधारण की इस काय मनःस्थिति का सुन्दर प्रस्तुतीकरण इन पंक्तियों में है–

माथे से अपने लगा कर प्रमथ्यु ने/फेंक दिया फिर मुझको/इन कायरों के बीच/मुझसे ये/ सुबह-शाम चूल्हा सुलगायेंगे/शय्या गरमायेंगे/सोना गलायेंगे/और जरा सा मौका पाते ही/अपने पड़ोसी का सारा घर फूकेंगे!

हमारा समाज जिस प्रकार के जाति, भाषा एवं प्रादेशिक द्वेष से भर गया है, उसके कारण आपसी सहिष्णुता और सामंजस्य की भावना को ठेस पहुँची है। घृणा का जहर लगातार फैल रहा है। आपसी समझ का दायरा संकुचित होता जा रहा है लेकिन भारती इन विपरीत परिस्थितियों में भी आशा की ज्योति जलाए रखते हैं। वे 'प्रमथ्यु' के मुख से कहलवाते हैं–

कोई तो ऐसा दिन होगा/जब मेरे ये पीडा-सिक्त स्वर/उनके मन को बेध/मूर्छित प्रमथ्यु को जगायेंगे!/उस दिन/हां, उस दिन/अकेला मैं रहूँगा नहीं/सबके हृदयों में मैं जागूँगा/मैं प्रमथ्यु/कटु मैं नहीं हूँ/घृणा किससे करूँगा मैं?

भारती जी की ये आशावादिता अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं कि किसी न किसी दिन सबके मन में सोया 'प्रमथ्यु' जागेगा। व्यक्तिगत प्रतिद्वन्द्विता और अंहमन्यता को त्यागकर जन-साधारण गांधी जी के वैष्णवजन की मूल प्रेरणा– 'पीर पराई' को जानने लगेगा। यह आशामय स्थिति हमारे लिए बड़े काम की है। यह हमारे भविष्य की आधारशिला है।

प्रतीकों की यही विशेषता होती है कि वे कभी भी जड़ नहीं होते। अन्तः सलिला जैसी अदृष्य गतिशीलता बनी रहती है। 'प्रमथ्यु गाथा' में द्युपितर; जूपीटर से बना शब्द की निरंकुशता यानि सत्ता की अमानवीयता कुछ ऐसे व्यक्त होती है–

मैंने जो नक्शा बनाया था/मानव अस्तित्व का-/उसमें थी दासता,/विनय थी, कायरता थी/भय था, आतंक था/अंधेरा था/यह जो इस व्यक्ति ने/अंधेरे को देकर चुनौती/ दुस्साहस किया/यह मेरी सत्ता का प्रथम अनादर था।

जब-जब सत्ता के निहित स्वार्थों पर कोई चोट करता है तो पूरी व्यवस्था अपने-अपने राजनैतिक मत-मतान्तरों को त्यागकर एकजुट होकर जन-साधारण की परिवर्तन की आकांक्षा को, चिनगारी को, बलपूर्वक दबा देती है और पूरा जन-समुदाय एक बार फिर तमाशबीन बनकर खड़ा रह जाता है।

हम हैं तमाशबीन/देख रहे हैं/कैसे जकड़ा हुआ है शिलाओं से/कैसे वह कंधे पर बैठा हुआ गिध्द/नौंच नौंच खाता है उसका हृदय पिण्ड।

समाज की निष्क्रियता, अवसरवादिता और चुनौतियों से भागने की प्रवृत्ति भी इस कविता में मुखर होकर सामने आती है। वे खुद कुछ नहीं करना चाहते बस किसी चमत्कारी मसीहा की तलाश है उन्हें। वे करिश्मों के प्यासे हैं। खुद कुछ करने या निर्णय लेने की क्षमता खो बैठे हैं। क्योंकि डरते हैं। दण्ड भोगने से बचते फिरते हैं। उन्हें हमेशा विषपान करने वाले शिव की तलाश रहती है जो उनके हिस्से का अमृत तो दे दे लेकिन विष स्वयं पी जाए। 'प्रमथ्यु' का प्रतीक भी ऐसे ही नीलकण्ठ शिव जैसा है।

इस कविता में समाज के विभिन्न वर्गों का सशक्त रूपायन होता है। इसमें सामान्यजन, सत्ताधीश, बुध्दिजीवी, गुरूजन सभी का चरित्र उद्घाटित होता जाता है। इन्हीं के मध्य से उभरता है 'प्रमथ्यु' का चरित्र जो उस साहसी युवा शक्ति का प्रतीक है जो परिवर्तन लाना चाहती है जिसमें साहस है, बुध्दि है, दृढ संकल्पशक्ति है लेकिन उसकी अग्रज पीढी कायर, मोहान्ध और यथा स्थितिवादी है। फलतः बदलाव की भूमिका तैयार होने के बाद भी कुछ नहीं बदलता है। शोषण और भ्रष्टाचार का खेल जारी रहता है।

'प्रमथ्यु' इसी तरह की यथास्थितिवादी मनोवृत्तियों से संघर्ष करने वाली शक्ति का प्रतीक है।

'प्रमथ्यु' कोई व्यक्ति तो नहीं है। यह हमारी चेतना में छिपी परिवर्तन की शाश्वत आकांक्षा का प्रतीक है जो बार-बार सिर उठाती है। 'प्रमथ्यु' उस सर्जनात्मक शक्ति का प्रतीक है, जो रूढियों की बेडियों में जकड़ी होकर भी मुक्ति पाने के लिए कसमसाती है, तड़पती है, बार-बार प्रयास करती है। यह उस दुर्दमनीय संकल्पशक्ति का प्रतीक है जिसे रूढिग्रस्त मान्यताएं ध्वस्त नहीं कर पाती हैं। वस्तुतः 'प्रमथ्यु' प्रत्येक मानव के हृदय में छिपी मुक्ति-कामना का प्रतीक है। और जिस दिन यह मुक्ति कामना, परिवर्तन की सतत आकांक्षा और विपरीत परिस्थितियों से अनवतर संघर्ष की आग बुझ जाएगी, उसी दिन 'प्रमथ्यु' की मृत्यु हो जायेगी। उसी दिन सम्पूर्ण मानव जाति के भविष्य का सूर्य भी अस्त हो जाएगा।■

नीलम दीक्षित

२९ सितम्बर, १९६८ को गोरखपुर में जन्म। इलाहाबाद से बी.एससी. (जीवविज्ञान)। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में रचनाओं का प्रकाशन एवं आकाशवाणी केन्द्रों द्वारा प्रसारण। दूरदर्शन में अनेक कार्यक्रमों का संचालन व वृत्तचित्र लेखन। कविता संकलन 'पंखुरी पंखुरी' प्रकाशित।

संपर्क : ५/१०७ विनय खण्ड, गोमतीनगर, लखनऊ-२२६०१० ईमेल : dhanyadxt@gmail.com

कृति-विमर्श

अर्द्धनारीश्वर : एक सम्पूर्ण व्यक्तित्व

कहानी, उपन्यास और नाटकों के रचनाकार विष्णु प्रभाकर वैसे तो हिंदी साहित्य के लिए एक प्रतिष्ठित नाम हैं किन्तु उनकी पुस्तक 'आवारा मसीहा' ने उन्हें एक उत्कृष्ट जीवनीकार के रूप में भी स्थापित कर दिया जो कि जाने-माने बंगला उपन्यासकार शरतचंद्र के जीवन को लेकर लिखी गई थी। विद्वान् लेखक विष्णु प्रभाकर की साहित्यिक उपलब्धियों में अनेक पुस्तकें शामिल हैं, 'कोई तो' जैसी अत्यंत महत्वपूर्ण कृति के बाद उनकी ऐसी ही एक प्रसिद्ध कृति 'अर्द्धनारीश्वर' है जिसे साहित्य अकादमी पुरस्कार से सम्मानित भी किया गया।

पुरातन काल से हिन्दू धर्म के अनुसार माना जाता रहा है कि शक्ति के बिना शिव भी शव के समान हैं, शिव की मान्यता उनके अर्द्धनारीश्वर रूप में ही पूर्णता पाती है। इस उपन्यास कि रचना भी भारत की इन्हीं पौराणिक मान्यताओं को लेकर की गई है। वर्तमान में भी हमारे समाज और विधान में स्त्री को पुरुष के बराबर का दर्जा दिया जाता है किन्तु वास्तविक स्थिति ऐसी नहीं है। इसके अनेक कारण संभव हैं। सामाजिक जीवन मूल्य, संस्कार और विधान हमारे महापुरुषों और देवताओं के जीवन से अनुसरित हैं। 'अर्द्धनारीश्वर' की एक नारी पात्र के अनुसार एक तरफ तो शंकर बेहद भोले हैं किन्तु सत्य और न्याय का प्रहरी तीसरा नेत्र भी उन्हीं के पास है। वर्तिका आगे कहती है कि 'और वैसी हैं पार्वती। एक ओर देवताओं के सेनापति कार्तिकेय की माँ, दूसरी ओर गणेश की भी। वह शिव की जंघा पर बैठने वाली पार्वती हैं तो काली, महाकाली, रणचंडी भी वही हैं। उसे शांत करने के लिए शिव उसके चरणों में लेट जाते हैं। काश! इस प्रतीक के सही अर्थ समझे होते हमने! लेकिन धीरे-धीरे नर नारायण होता गया और स्त्री दासी फिर चरण दासी।'

> नैतिकता के परिपेक्ष में लेखक ने उस समाज पर प्रहार किया है जिसने स्त्री को भोग्या माना और उसके अबला होने का समर्थन किया, उसे बेचारी बनाकर गर्त में जाने पर विवश किया। समाज को स्त्री विरोधी गतिविधियों से मुक्त होना होगा तभी नारी को पूर्ण गरिमा और सम्मान प्राप्त हो सकेगा।

विष्णु प्रभाकर मानते हैं कि आज भी आधुनिक कहे जाने वाले समाज में नारी के लिए वर्जनाएं कम नहीं हुई हैं। कहानी आधुनिक युग में संबंधों की जटिलता की तह तक पड़ताल

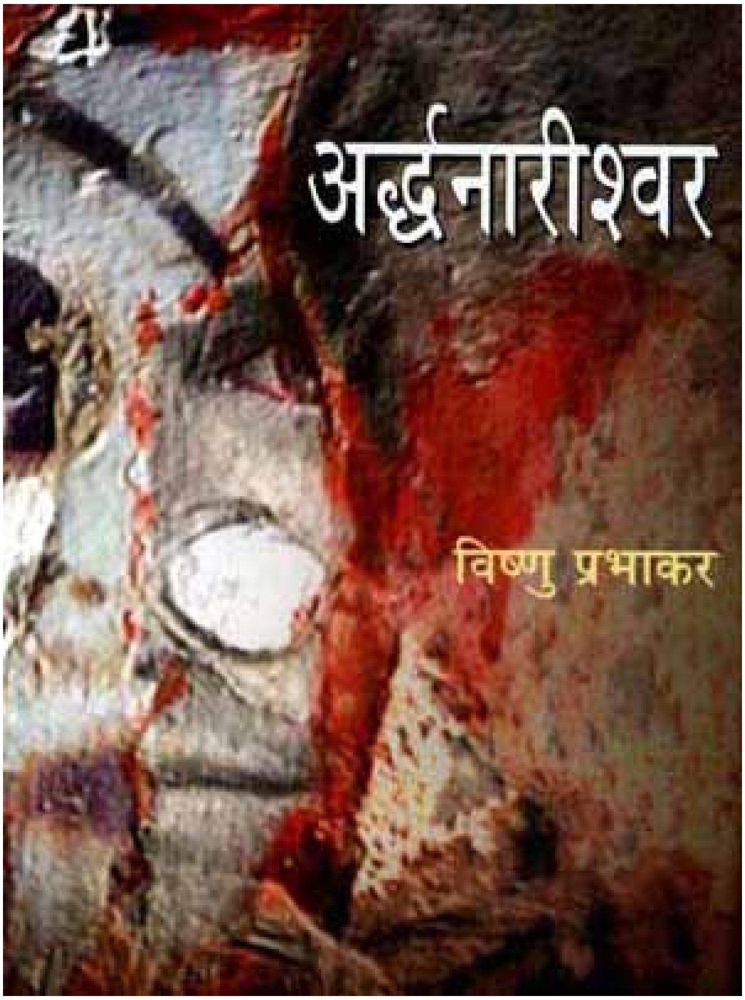

विष्णु प्रभाकर ने इस उपन्यास के माध्यम से बताना चाहा है कि हमारे सामाजिक संस्कार और मूल्य पुरातनकाल से चले आ रहे हैं, सुगठित समाज के लिए अब उनमें परिवर्तन करने की आवश्यकता है। दोनों को ही अपने स्व और स्वामित्व से बाहर आकर स्वतंत्रता पाना होगी, एक-दूसरे को बिना आरोपित किए।

करती हुई अनेक सामाजिक कुरीतियों जैसे जात-पात, धर्म-भेद, अमीरी-गरीबी, शोषण और उत्पीडन जैसे मुद्दों के साथ ही बलात्कार जैसे ज्वलंत विषयों को लेकर आगे बढ़ती है जिसमें घुटन, विघटन, अन्तर्द्वंद्व नर-नारी दोनों को सहन करना पड़ता है। भारत के समाज में आदिकाल से आधुनिक काल तक स्त्री-पुरुष कभी भी एक-दूसरे के विरोधी नहीं माने गए। वे सदैव एक दूसरे के पूरक के रूप में ही जाने गए। पुरुष के भीतर जहां भाव, सौन्दर्य और संवेदना का गुण उसके व्यक्तित्व को पूरा करते हैं वहीं स्त्री में संबल और धैर्य उसके सुकोमल तन-मन को पूर्णता प्रदान करते हैं। किन्तु मूल समस्या पौरुषिक अहम से पैदा होती है। उसे आहत होना स्वीकार्य नहीं। उसे ही सहज बनना होगा और साथ देना होगा। स्त्री-पुरुष ने स्वयं ही मकड़जाल बनाकर अपने आपको दासता में जकड़ा है। एक ओर स्त्री की पुरुष बल के प्रति आकर्षण, घर बसाकर सुरक्षा और मातृत्व पाकर पूर्ण होने की लालसा है तो दूसरी तरफ पुरुष भी अधिकार, प्रभुत्व, काम-वासना और छोटे-छोटे दैनिक दैहिक सुखों के मोहवश स्त्री का दास हो जाता है। इसी दासता की जकड़न से मुक्ति के लिए स्त्री और पुरुष दोनों को ही अपने भीतर से प्रयास करना होगा। नैतिकता के परिपेक्ष में अर्द्धनारीश्वर के कुछ स्त्री पात्रों के तार्किक संवादों के द्वारा लेखक ने उस समाज पर प्रहार किया है जिसने स्त्री को भोग्या माना और उसके अबला होने का समर्थन किया, उसे बेचारी बनाकर गर्त में जाने पर विवश किया। समाज को स्त्री विरोधी गतिविधियों से मुक्त होना होगा तभी नारी को पूर्ण गरिमा और सम्मान प्राप्त हो सकेगा, तभी भ्रूण हत्या और बलात्कार जैसे जघन्य अपराधों से समाज मुक्त हो सकेगा।

इस प्रसिद्ध उपन्यास में स्त्री-पुरुष के बीच विभिन्न वजहों से उपजी अनेक विसंगतियों का कारण और उससे उबरने का मार्ग भी सुझाया गया है किन्तु किसी बाहरी प्रयास द्वारा नही बल्कि बार-बार स्वयं से उबर आने का मार्ग।

टूटने बिखरने के अनगिनत पड़ावों के बीच ही एक-दूसरे की दुर्बलताओं और सबलताओं को स्वीकार कर एक दूसरे के साथ आगे बढ़ना ही अर्द्धनारीश्वर की परिकल्पना है। कहानी में जगह-जगह विभिन्न काल परिस्थितियों में बार-बार एक बात उभर कर आती है कि स्त्री पुरुष एक-दूसरे के लिए ही बने हैं। आज के परिवेश में जहां समाज और नारी की शिक्षा व सशक्तिकरण से ज्यादा कभी-कभी नारी मुक्ति का मुद्दा मुखर हो उठता है वहाँ इस उपन्यास की प्रासंगिकता और बढ़ जाती है।

स्त्री के लिए लेखक दोहरे मूल्यों को तजने के साथ ही उसकी स्वतंत्रता की बात करता है, वे कहते हैं कि एक ओर तो नारियों से अभद्रता करने वाले असामाजिक तत्वों के विरुद्ध कानून बनाए जाते हैं दूसरी ओर दूषित साहित्य और फूहड़ कार्यक्रम व फिल्म निर्माण करके अपराधिक मनोवृत्तियों को भड़काया जाता है। अलग-अलग तबकों से आने वाली सभी स्त्रियों की सामाजिक वर्जनाएं एक सी ही होती हैं कहीं कोई अंतर नहीं होता, एक तरफ सुमिता अपनी क्वारी ननद विभा को बचाने के लिए पति के साथ होते हुए भी बलात्कार का शिकार होती है, एक प्रौढ़ा अपने विवाह के तुरंत बाद अपने ही नौकर की कुत्सित नजर का शिकार होती है तो दूसरी ओर गरीब राजकली पुलिस के हवस की भेंट चढ़ती है। ऐसे ही वर्तिका, शालिनी अहमदाबाद की मजदूर और न जाने कितनी स्त्रियाँ..., सभी के भीतर भय, छटपटाहट, अंतर्द्वंद्व, लाचारी और विवशता का शूल ऐसा धंसा है जैसे सृष्टि में दूसरा कुछ भी नहीं बचा। युगों-युगों से जिन संस्कारों और जीवन मूल्यों को वे आत्मसात करती चलती है उन्हीं से भय! तन-मन की उलझनों के बीच ही टूटती-जुड़ती, गिरती-संभलती, बिखरती फिर सहेजती स्त्री। स्त्री को दासता से मुक्ति पाने के लिए अपने को सशक्त बनाना होगा, उसे समझना होगा कि दोनों एक दूसरे के परस्पर विरोधी नहीं बल्कि पूरक हैं। पात्रों के बीच वाद प्रतिवाद के साथ कहानी आगे बढ़ती रहती है। दैनिक जीवन में जो कुछ भी हम पढ़ते सुनते और अपने इर्द-गिर्द घटते देखतें हैं उन सभी घटनाओं व उनसे उपजी घर-परिवार और समाजिक दुविधाओं को उपन्यास में बड़े ही करीने से पिरोया गया है।

विष्णु प्रभाकर ने इस उपन्यास के माध्यम से बताना चाहा है कि हमारे सामाजिक संस्कार और मूल्य पुरातनकाल से चले आ रहे हैं, सुगठित समाज के लिए अब उनमें परिवर्तन करने की आवश्यकता है। दोनों को ही अपने स्व और स्वामित्व से बाहर आकर स्वतंत्रता पाना होगी, एक-दूसरे को बिना आरोपित किए। 'अर्द्धनारीश्वर' ने सामाजिक विसंगतियों से उबरकर शिव-शक्ति के प्राचीनतम स्वरूप को समाधान के रूप में प्रस्तुत किया है।■

डॉ. गंगा प्रसाद शर्मा 'गुणशेखर'

१ नवम्बर १९६२ के समशेर नगर, बहादुर गंज, सीतापुर, उत्तर प्रदेश में जन्म। विगत दो दशकों से साहित्य सृजन में सक्रिय। 'दलित साहित्य का स्वरूप विकास और प्रवृत्तियाँ' पुस्तक प्रकाशित। शिरोमणि सम्मान (साहित्य, कला परिषद जालौन) तथा तुलसी सम्मान (मानस स्थली, सूकरखेत, उत्तर प्रदेश) से सम्मानित। सम्प्रति- आचार्य, हिन्दी विभाग, गुआंगदांग अंतर्राष्ट्रीय विश्वविद्यालय, ग्वान्जाऊ, चीन।

सम्पर्क : dr.gunshekhar@gmail.com

कृति-विमर्श

गुजिश्ता दौर के ऐतिहासिक चरित्र

साहित्यिक दृष्टि से आज हिंदी बहुत समृद्ध है। नाना विधाओं के साहित्य से हिन्दी का रचना संसार जगर-मगर है। कविता की सरिता तो आठवीं-नवीं सदी में ही बह निकली थी। लेकिन गद्य का झरना उन्नीसवीं सदी में आके फूटा। गद्य की विधाओं में सबसे प्रमुख विधा उपन्यास है और इस उपन्यास लेखन की परंपरा आधुनिक काल के अपने प्रथम चरण भारतेंदु युग से ही आरंभ हो जाती है। आरंभ तिलस्म और ऐय्यारी से होता है। बाबू देवकी नंदन खत्री के इस ऐय्यारी और औपन्यासिक तिलस्म के मोहजाल में बंधकर दक्षिण भारतीयों तक ने हिन्दी सीखी। पर यह तिलस्म ज़्यादा लंबे समय तक नहीं चला। मुंशी प्रेमचंद ने इस विधा को तिलस्म और राजा-रानी के रंगमहलों से निकालकर भारतीय जनजीवन के बीच रखा। इसी बीच छिड़ी आजादी की लड़ाई ने भी अपना रंग दिखाया। उपन्यास को एक और दिशा यानी इतिहास की ओर भी हाथ पकड़कर ले जाने की कोशिश की। इस कोशिश में उसके हाथ लगे वृन्दावन लाल वर्मा। उन्होंने बहुमूल्य ऐतिहासिक उपन्यास लिखे। लेकिन उनके बाद यह सरिता जैसे किसी पठार के पीछे अटक के रह गई थी। इसलिए ऐतिहासिक उपन्यासों के लेखन की यह परंपरा बहुत समृद्ध नहीं बन पाई। लेकिन उत्साहित करने वाली बात यह है कि उस पठार को तोड़ने का काम साहित्य के दशरथ मांझी डॉ. सुधाकर अदीब ने 'शाने तारीख़' और 'रंगरांची' की छेनी-हथौड़ी से कर दिया है।

इनके इन दोनों उपन्यासों से अभी हाल में मेरा साबका पड़ा। पहला है शेरशाह पर आधारित 'शाने तारीख़' और दूसरा है 'रंग रांची'।

शेरशाह सूरी महज एक बादशाह नहीं 'शाने तारीख़' था। वह अपने समय का एक ऐसा व्यक्ति था जो किसी राजवंश में नहीं जन्मा था! एकदम धूल से उठा एक ऐसा व्यक्तित्व था जो संघर्ष की आँधियों में तपकर मध्यकालीन भारत के राजनैतिक आकाश पर एक तूफ़ान की तरह छा गया। एक ऐसा अभूतपूर्व तूफ़ान जो सिर्फ पांच बरस चला, मगर जो अपना असर सदियों तक के लिए इस धरती पर

छोड़ गया। हुमायूँ के सुयोग्य बेटे अकबर ने भी अपने पूर्ववर्ती शेरशाह के सुशासन और उसकी धार्मिक सहिष्णुता का अनुगमन किया और उसके दिखाये मार्ग पर सुदीर्घ काल तक चलकर ही वह महान बना। शेरशाह ने सूत्र रूप में जो राजकाज के सिद्धांत दिये उन्हें और भी विकसित कर जलालुद्दीन मोहम्मद अकबर इतिहास में अपना नाम अमर कर गया। लेकिन जो लोग अपनी राह खुद बनाते हैं इतिहास में उनका नाम चाहे जितना श्वेत और श्याम हो, समय उनसे प्रेरित होकर उसमें नित नये रंग भरता है। शेरशाह सूरी इस लिहाज से अकबर महान से भी अधिक एक रचनात्मक प्रतिभासंपन व्यक्ति और उससे बड़ा राष्ट्र-निर्माता था। यदि उसे अपने जीवन में दस-पंद्रह बरस और मिले होते तो शायद लोग अकबर को भी उस तरह याद न करते जैसा आज करते हैं। शेरशाह वास्तव में इतिहास का गौरव था।

'रंगरांची' मीरा के जीवन पर केन्द्रित उपन्यास है। उसके जीवन संघर्षों की गाथा है यह। इस दृष्टि से जीवनी परक ऐतिहासिक उपन्यास कहना अधिक तर्क संगत लगता है। जीवनी इसलिए कि इसमें उनके जीवन का क्रमिक और

प्रामाणिक विकास मिलता है। इतिहास इसलिए कि केवल मीरा के जीवन का ही नहीं समूचे राजपूताने की शौर्यगाथा का तिथिवार घटनाक्रम यहाँ मौजूद है। उपन्यास इसलिए कि मीरा के जीवनाख्यान को अपने ढंग से विकसित कर उसे न्याय दिलाने के लिए उपन्यासकार ने इतिहास को केवल हाज़िर-नाज़िर मानकर कसम खाने भर के लिए रखा है। यह इसलिए भी कि यहाँ इतिहास की मीरा नहीं साहित्य की मीरा हैं। यहाँ मीरा के जीवन में इतिहास की जितनी दखल है बस उतना भर इतिहास यहाँ है

'रंगरांची' में इतिहास, भक्ति और साहित्य की त्रिवेणी प्रवाहित है। लेकिन प्रयाग की भौतिक त्रिवेणी की तुलना में इस मानसी त्रिवेणी की भक्ति-सरस्वती साहित्य और इतिहास की गंगा यमुना से अधिक वेगवती है। उपन्यास अट्ठारह आरोहों में विभक्त है। सभी आरोह मीरा के पदों की प्रथम पंक्तियों से आरंभ होते हैं। पीया बिन सूनो छे म्हारो देश, मेरे तो गिरिधर गोपाल दूसरो न कोई, दरस बिन दूखन लागे नैन, म्हाने चाकर राखो जी और मैं तो गिरिधर के रंग रांची जैसे उपशीर्षक प्रथम दृष्टि में ही अपनी काव्यात्मकता से आकृष्ट कर लेते है। पूरे उपन्यास को उपशीर्षकों में बांटना सोद्देश्य है। ये सभी मीरा के जीवन में समाई वैष्णवी भक्ति की शक्ति को नाना रूपों-स्वरूपों में व्याख्यायित करने की चेष्टाएँ हैं। ये चेष्टाएँ बताती हैं कि मीरा केवल भक्त थीं। वे कुछ और थी ही नहीं। गृहस्थ होकर भी वे गृहस्थ कब थीं? वे तो सदा संन्यासिनी ही रहीं। कृष्ण के रंग में रंगी मीरा।

सन् १५१६ ईसवी के सामंती समाज वाले कालखंड में मीरा ब्याह के चित्तौड़गढ़ आई थी। जिस गढ़ में वह आई थी उसकी मर्यादाएँ और रूढ़ियाँ तो प्राचीरों से भी अधिक अलंघ्य थीं। कुँवर भोजराज के संयोगकाल में तो ये उतनी भयावह नहीं लगी थीं जितनी कि उनके देहावसान के बाद। वे जम की फांसी लगने लगती हैं। इसीलिए वह उन्हें काटना चाहती है और प्रभु से आराधना करती है 'काटो जम की फांसी।'

इस उपन्यास में इतिहास का आना घटना भर है कोई अनिवार्य प्रयोजन का हेतु नहीं। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि लेखक उन घटनाओं के परिणामों की अनदेखी कर आगे बढ़ जाए। उसे लगता है कि भाई-भाई के बीच की मारकाट में राजपूती शान बघारना भला वीरता कैसे हो सकती है? इसीलिए इस परिवेश को पाकर लेखक की करुणा भी विद्रोही हो जाती है।

प्रत्येक आरोह में उद्धृत पदों और उनके विस्तार के जरिए मीरा की भक्ति की हर व्याख्या भावुक करती है। लेकिन विवाह के बाद मीरा के इस आध्यात्मिक दांपत्य सुख को भौतिक पुरुष ने जिस तरह से बाँट लिया था, उसकी व्याख्या करते हुए 'अदीब' एक सामान्य साहित्यकार से बहुत ऊपर उठकर अध्यात्म-पुरुष बन जाते हैं। इनकी मीरा भी स्वयं कहती है, 'मीरा जो केवल श्रीकृष्ण की अनन्य दासी बनकर रहना चाहती थी, उसकी साँसों पर अब एक राजपुरुष का अधिकार था।' मीरा के अध्यात्म को शब्द दे पाना इतना आसान भी नहीं था, पर यहाँ इतना आसान कर दिया है कि इन पंक्तियों पर नज़र पड़ते ही ये आँखों से होते हुए भीतर उतर जाती हैं।

उपन्यासकार युद्धों की विनाशलीला से आहात है। शायद इसीलिए वह राणा सांगा के युद्धों और उनकी वीरता की निरर्थकता को कोसते हुए विक्रमादित्य से कहलाता है, *सारी ज़िंदगी बाबों सा युद्ध लड़ते रहे। और शत्रुओं से लड़ने में मेवाड़ी सेना को कटवाते रहे। पर आखीर में गुज़रे तो मुट्ठी भर सैनिक और कौड़ियों के बराबर खजाना हमारे लिए छोड़ गए। इतनी मारकाट और रक्तपात से आखीर हमें क्या मिला?*

मीरा चाहे दुर्ग में रहीं चाहे दुर्ग से बाहर ,वे कभी किसी से डरीं बिल्कुल नहीं। उनकी क्रांतिधर्मी चेतना सदैव सजग रही। भोजराज के देहावसान पर सती होने से उन्होंने साफ-साफ माना कर दिया था। इनका सती होने से इनकार करना मध्यकालीन समाज में एक बड़ी क्रान्ति थी। मीरा अपने मजबूत तर्कों से सती प्रथा का खंडन करती हैं, *जो जीवन हमें परमात्मा ने दिया है उसे हम ऐसी अविवेकपूर्ण मान्यताओं के सम्मुख क्यों अग्नि की भेंट चढ़ा दें?*

इस क्रान्ति की आग उनकी चेतना में सतत सुलगती रहती थी। ऐसी आग वाली मीरा भला आत्महत्या कर सकती थी। पर,जब वह समुद्र की ओर गई तो लोगों ने यहाँ तक कि उसकी सहेली ललिता ने भी समझा था कि मीरा ने आत्महत्या कर ली। लेकिन मीरा उद्विग्न बहुत थीं। इन परिस्थितियों के माध्यम से उपन्यासकार सुधाकर अदीब मीरा की मृत्यु के रहस्य को रहस्य ही रहने देना चाहते हैं। ब्राह्मणों के अपने साथ ले जाने के आग्रह मीरा को डिगा न सके। वे मुख्य पुजारी से अनुमति लेकर द्वारकाधीश के विग्रह से मिलीं और 'घुटनों के बल बैठीं।'वे उस अवस्था में बैठकर अपने इष्ट से कुछ शिकायत करना चाहती थीं। एक ऐसी शिकायत जो सारे स्त्री समाज की थी।

उपन्यासकार ने उन्हें उसी स्थिति में बैठे रहने देकर कहानी की उत्सुकता को और बढ़ा दिया है। वे कथा को समापन की ओर ले जाते हुए शंख नहीं बजाते हैं बल्कि ऐसा लगता है कि आहिस्ता से कथा की उस पुस्तक को बंद करते हुए उस पर कुछ फूल रख रहे हैं।■

ब्रजेन्द्र श्रीवास्तव

लेखक-समीक्षक, साहित्य एवं कला, विज्ञान एवं अध्यात्म, ज्योतिष एवं वास्तु, ब्रह्मविद्या एवं ब्रह्माण्ड विज्ञान जैसे विविध विषयों पर निरंतर लेखन। ५० से अधिक शोध-पत्र विश्वविद्यालयों व राष्ट्रीय संगोष्ठियों में प्रस्तुत। विश्वविद्यालय में अतिथि अध्यापन का सुदीर्घ अनुभव। आजीवन सदस्य : ग्वालियर एकेडेमी ऑफ मैथमेटिकल साइंसेज, इण्डियन इंस्टीट्यूट ऑफ पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन, नई दिल्ली।

सम्पर्क : २६९, जीवाजी नगर, ठाठीपुर, ग्वालियर-११ ईमेल : shrivastava.brijendra@gmail.com मो. ९४२५३६०२४३

कृति-विमर्श

महेश अनघ की कहानियां

कौतूहल काव्य रस और सामाजिक न्याय की त्रिवेणी

समकालीन हिन्दी की कृतियों में 'जोग लिखी' और 'शेष कुशल' नवगीतकार और कथाकार महेश अनघ के ये दो कहानी संग्रह, इस कारण से उल्लेखनीय कहे जा सकते हैं क्योंकि इनमें कौतूहल काव्य रस और सामाजिक न्याय की अनूठी त्रिवेणी प्रवहमान है।

कहानी में कौतूहल अर्थात आगे क्या? की जिज्ञासा यों तो कहानी का एक आवश्यक तत्व ही माना जाता रहा है पर बाद की कहानियों में इसका स्थान यथार्थ परक चित्रण, मनोवैज्ञानिक अथवा सामाजिक परिवेश के चित्रांकन ने ले लिया और कौतूहल को किस्सागोई से जोड़कर इस तत्व को निकल बाहर करने की चेष्ठा की गई है। वस्तुतः कौतूहल को कहानी से अलग नहीं कर सकते। कथासरित्सागर की कहानियां हों या कुछ आधुनिक कथाकारों की किस्सागोई, इन सभी में जिज्ञासा का तत्व अंतर्धारा की तरह विद्यमान दिखाई देता है, इसके बिना तो कहानी एक रिपोर्ताज जैसी फोटोग्राफकि आर्ट जैसी बन जाती है

दूसरा तत्व जो महेश अनघ की कहानियों में है वह है काव्यत्मकता। कहानी में कविता जैसी तरलता और सम्मोहन सृजित करते चलना यह भी उनकी निजी विशेषता है। इसके पीछे बड़ा कारण यह है कि महेश अनघ एक सफल और स्थापित नवगीतकार भी हैं इसलिए उनका कविमन सहज ही ऐसे विशेषण विपर्यय खोज लेता है जो कहानी में संवाद और चित्रांकन के बीच ऐसी काव्यात्मक तरलता सृजित करते हैं जैसे कि एक सफल कवि कविता में शब्द और अर्थ के बीच के अनकहे को पाठक के हृदय में अचानक उठी तरंग की तरह स्पंदित कर देता है। एक अन्य कारण उनका संस्कृत साहित्य के प्रतिभावान विद्यार्थी होना भी है। आधुनिक कविता और कहानी जैसी कठोर कहीं-कहीं वीभत्स शब्दावली के प्रयोग से आक्रोश को व्यक्त करने का चलन सा हो गया है वहीं संस्कृत साहित्य में परुषता के स्थान पर स्निग्धता का प्राबल्य है एवं समाज में शुभत्व को ही देखने दिखाने का चलन रहा। आम आदमी के दुःख संत्रास द्वंद्व को संस्कृत में कम ही चित्रित किया गया।

महेश अनघ की कहानियों में जिस तीसरे तत्व की बात मैं कह रहा हूँ- वह है सामाजिक न्याय के प्रति प्रतिबद्धता। यद्यपि इस पहलू पर चर्चा कम ही हुई है उनकी किस्सागोई की विशेषता और कविता जैसे अंतर्प्रवाह की चर्चा के बीच यह छूट गई लगती है। सामाजिक प्रतिबद्धता और सामाजिक न्याय को दरअसल जिस तरह एक आन्दोलन के रूप में कहानी कविता नाट्य आदि विधाओं में में थीम बनाकर प्रस्तुत किया जा रहा है वैसा महेश अनघ की कहानियों में पृथक बैनर के बतौर कुछ नहीं हैं, फिर उनकी कहानी में सामजिक न्याय के प्रति छटपटाहट और वर्ग संघर्ष की परुषता या कठोरता भी कविता की छाया से होकर निकलने के कारण अलग ही रूप में व्यक्त हुई है। उच्च वर्ग का नजरिया भी कहीं-कहीं उदार हुआ है यह भी उन्होंने दिखाया है। 'शेष कुशल' कहानी में अनघ कौतूहल तत्व का उपयोग कौशल से करते हैं। संग्रह की कहानी 'नारियल' में कथावाचक आनंद मोहन वैश्यम्पायन गोत्र के ब्राह्मण, नियम से सत्यनारायण कथा बांचने जाते हैं, भग्गा कुर्मी के यहाँ। भग्गा सुनाता है कि पंडिज्जी आपके पिता जी बड़े डाक्टर हो कर इस गाँव में आए तो बहुत बे मन से डाक्टरी करते। रत्ना की मरणासन्न औरत को देखकर बाहर निकलते समय बैल ने उन्हें सींग मार दिया तो रतना ने उन्हें खटिया पर लेटा कर अस्पताल पहुंचा दिया और डागघर साब के चरणों में गुडी मुडी दो रुपये का नोट बतौर फीस रख दिए। इस घटना से आपके पिताजी ने रत्ना काछी को कलेजे से लगा लिया और गाँव की कीच-माटी और डाकघर साब

दूध पाने से एक बरन हो गए। पंडित आनंद मोहन घर वापस आते हैं तो पत्नी उनके थैले में मात्र एक नारियल देख कर कहती है - सो, दिस इस योर टोटल इनकम ऑफटुडे। पंडित आनंद मोहन ने शांत भाव से कहा- एस, थिस नारियल इज लव आफ गॉड। एंड ओनली दिस इस इनकमिंग आल अथर आर आउट गोइंग। कथा के चढ़ावे के पैसे मैंने भग्गा कुर्मी को दे दिए हैं, नमक मिर्च खरीदने के लिए।

प्रेमचंद की कहानी में, जिस पर सत्यजित राय ने सद्‌गति फिल्म बनाई, चतुर्थ वर्ण का व्यक्ति जब पंडित जी के पास अपनी बेटी के विवाह का मुहूर्त शोधन करवाने जाता है तो पंडित जी कहते हैं की जब तक वह पत्रा देखते हैं तब तक आँगन में पड़ी लकड़ी के छोटे छोटे टुकड़े कर दे। बेचारा धूप में सुबह से दोपहर तक लकड़ी फाड़ते-फाड़ते पसीना पसीना हो जाता है पर पंडित जी का दिल नहीं पसीजता। बस उन्हें इतना ही लगता है कि कहीं यह ऐसे में मर गया तो घर से बाहर फेकने में इसे छूना पड़ेगा। प्रेमचंद चूंकि संस्कृत साहित्य की पृष्ठभूमि से नहीं आए थे वे तो सीधे उर्दू में लिखते थे, वंचितों की दयनीय स्थिति व शोषण को सीधे-सीधे देखते आए थे इसलिए उनके साहित्य में ऐसे पात्र का अभाव ही है जो अपनी ऊंची जाति के किए गए विगत शोषण को देख कर स्वयं रूपांतरित तो हुए ही समाज को रूपांतरित करने की चेष्ठा में लगे हों। वस्तुतः यही मनोवृत्ति समाज के वर्ग वर्ण भेद और सामाजिक अन्याय को समता और प्रेम की ओर अग्रसर कर सकती है, वर्गसंघर्ष से तो अंतहीन समस्याएँ ही उभरती जाती हैं यही वास्तविक रूपंतार्ण या कायाकल्प है जिसे metamorphosis कहते हैं पर यह सब अपने-अपने दृष्टि-बोध की बात है।

विगत दिनों समाचार था कि एक दलित को अपने परिजन का अंतिम संस्कार करने के लिए दबंगों के कारण गाँव में खाली जमीन नहीं मिली तो उसने मजबूर होकर अपने घर के बाहर ही अंतिम संस्कार कर दिया। ऐसी ही घटना पर महेश अनघ ने शाह जी की 'सद्‌गति' शीर्षक कहानी में वर्ग चेतना की जागृति को भी कौतूहल के अतिरेक के साथ उभारा है जिसका सार संक्षेप यह है कि गाँव के श्मशान में पांच चबूतरे हैं और गाँव में एक साथ पांच ही जानें चली जाती हैं। पांचवी के संस्कार के लिए चबूतरा साफ किया जाता है और चिता सजाई जाती है कि अचानक ही कस्बे के शाह जी के अंतिम संस्कार के लिए भीड़ उमड़ आती है और खाली चबूतरा नहीं दिखने पर एक युवक कहता है कि चूंकि अभी इस में चिता को आग नहीं लगी है इसलिए वे इस चबूतरे को खाली कर दें। इस पर अनुभवी बुजुर्ग कहते हैं कि हम छोटी जात के हैं, गरीब हैं तो क्या हमारी भी कोई इज्जत है कि नहीं? शाह जी के पक्ष के साथ आया थानेदार कहता है कि डेथ सर्टिफिकेट नहीं है तो फौरन लाश के साथ यहाँ से निकल जा, क्या पता आत्महत्या हो या हत्या। इसी सन्नाटे के बीच पोखर के पास खड़ा मृतक का छोटा पुत्र दौड़ कर दरोगा के सामने आकर खड़ा हो गया। यह लीजिए, यह कहते हुए उसने पेंट की जेब से एक कागज़ निकाल कर दरोगा के हाथ में थमा दिया। अच्छी तरह देख लीजिए। दरोगा की बोलती बंद हो गई और मौका देख कर इस पक्ष के बड़े लड़के ने फौरन अग्नि दे दी। चार युवक एक शानदार दीवान ले आये और उस पर रख संस्कार किया गया और इस तरह शाह जी को सद्‌गति प्राप्त हुई। पर अभी कहानी अशेष है। अनघ यहाँ कौतूहल तत्व का उपयोग कौशल से करते हैं। तो सुनें। तीसरे दिन अस्थि संचय के लिए जब परिजन आए तो देखा राख की पर्तों में ढेर सारी सौ-सौ रुपए की गड्डियां भी राख में हुई पड़ी थीं, वे अपनी अघोषित संपत्ति चोरों और सरकार से बचाने के लिए दीवान के अन्दर ही डालते रहे थे और एक करोड़ रुपए अपने साथ ले गए। 'हाई डोज' कहानी में निम्न वर्ग के महतो परिवार के तीसरी पीढ़ी के लड़के को डाक्टरी पढ़ते देख गाँव के पंडितजी ने उसके पछुआ रोग की अनोखी दवा निकाली। कहा महतो तेरा बाप बिल्ले का शरीर धर कर पुनर्जन्म लेकर इसी गाँव में आया गया है, विधि विधान से उसे घर ले आ। किसी तरह लक्ष्मण महतो अपनी घरवाली को बिल्ले रूपी ससुर की अगवानी के लिए तैयार करता है। पर बिल्ला खीर चट करने के बाद कपड़े बदलती बहू पर हमला कर देता है बहू कहती है ससुर जी ऐसे तो नहीं थे। बेटा कहता है बिल्ले की टांग तो क्या समूचा ही तोड़ दूंगा, क्या पंडित जी की पवित्र पौर में फेंकने की इजाजत दोगी? जयप्रकाश चौकसे ने 'परदे के पीछे' में अदूर गोपाल की एक फ़िल्म का जिक्र किया है कि दलित समुदाय अपने शोषण के खिलाफ सशस्त्र संघर्ष में विजयी होने पर भी पराजित पर तानी हुई अपनी तलवार फ़ेंक कर चला जाता है। सवाल यह है कि ऐसी स्थिति तक बदलाव को सशक्त यथार्थ रूप से दर्शाने के बाद लेखक क्या करे? क्या वह इसका नेतृत्व करते हुए कोई साहित्यिक पहल करे? किसी आन्दोलन का हिस्सा बने? इस पर कहानीकार महेश का अपने 'जोग लिखी' संकलन में कथन है कि मैं कहानी से क्रांति नहीं लाना चाहता। गरीबी, शोषण और भ्रष्टाचार मिटाना मेरे बस की बात नहीं, जिनके बस का है, क्या उन्होंने कर दिखाया है? मैं तो बस इतना चाहता हूँ कि भगवान्, जो लिखूं वह अघटित भले ही लगे, पर झूठ न हो और जिस तरह लिखूँ, पूरा पढ़े तो सही कम से कम। आगे वे कहते हैं कि कहानी का मतलब कुछ और होता हो तो पण्डे पुरोहित जानें। पंचों की राय सर माथे।■

राजू मिश्र

तीन दशक से अधिक समय से पत्रकारिता जगत में सक्रिय। लेखन, पठन-पाठन में अभिरुचि।

सम्पर्क : rajumishra63@gmail.com

बातचीत

उर्दू साहित्यकार डॉ. वजाहत हुसैन रिजवी से प्रख्यात पत्रकार राजू मिश्र की बातचीत

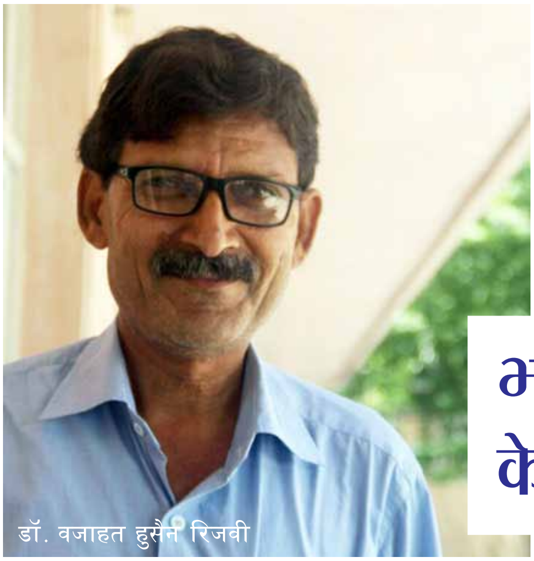

डॉ. वजाहत हुसैन रिजवी

भारतीय भाषाएँ बदलाव के दौर से गुजर रही हैं

जहां लफ्जों के मोती, एहसास की डोर में गुंथ जाते हैं तो शायरी का रूप धर लेते हैं और जब बोलों की शक्ल-सूरत अख्तियार करते हैं तो वो कहानी बन जाती है। शब्दों को किसी माला की मोतियों की मानिन्द सजाने-संवारने का हुनर सबके पास नहीं होता। डॉ. वजाहत हुसैन रिजवी के लिए नौकरी की मसरूफियत के बीच लिखने-पढ़ने के लिए वक्त निकालना चुनौतीपूर्ण तो है, लेकिन नामुमकिन नहीं। इस जज्बे के तहत साहित्य के साथ-साथ मीडिया की दोनों बाहों (प्रिंट-इलेक्ट्रॉनिक) को सलीके से थामे रखने की जिम्मेदारी कंधों पर उठाए आज भी कलम का मजदूर बने हैं। वे कहते हैं कि मैंने अदब की जमीन पर कुछ उकेरने, कुछ सृजन करने की कोशिश की है। वे उत्तरप्रदेश सरकार की उर्दू पत्रिका 'नया दौर' के संपादक हैं। 'नया दौर' के कई यादगार अंक उन्होंने निकाले हैं। उर्दू नावेलेट का तहकीकी व तनकीदी तजजिया, 'हीरे पत्थर', 'दीवाने समर', अली जवाद ज़ैदी (मोनोग्राफ), 'उर्दू नावेलेट : हैय्यत, असालीब और रुझानात' और 'अयामा' डिप्टी नजीर अहमद (तदवीन) उनकी लिखी कुछ ऐसी किताबें हैं जिन्होंने खासी लोकप्रियता पाई। राजू मिश्र ने उनसे लंबी गुफ्तगू की। प्रस्तुत हैं इसके खास हिस्से :

आधुनिक उर्दू-साहित्य की धारा को कैसे बयान करेंगे?

उर्दू साहित्य में आधुनिकता का रुझान इंसान की आंतरिक भावनाओं के जन्म से लिया गया है, चूंकि ये दृष्टिकोण प्रगतिशील आंदोलन को रद्द करने के कारण अस्तित्व में आया अतः इसको समझने के लिए प्रगतिशीलता की मूलभूत वस्तुस्थिति को ही देखना होता है। इसलिए कि प्रगतिशील आंदोलन का केंद्रीय विषय इंसान की वाह्य समस्याओं और समाज के सामूहिक विषय से था। इस कारण समय के बदलाव के साथ इस रुझान में भी तब्दीली पैदा हुई। क्योंकि प्रगतिशीलता से ही आधुनिकता ने जन्म लिया। इंसान को केवल वाह्य या सामाजिक समस्याओं से सम्बद्ध नहीं होना चाहिए, बल्कि इंसान की अपनी जात भी अहमियत रखती है इसलिए कि इंसान भी इसी समाज का एक हिस्सा है और उसकी आन्तरिक समस्याओं की अनदेखी नहीं की जा सकती।

कुर्रतुलऐन हैदर, राजिन्दर सिंह बेदी, जोश मलीहाबादी, फिराक़ गोरखपुरी और फैज़ के बाद किसके नाम का उल्लेख करेंगे, जिसने सृजन के जरिये समाज को दिशा दी हो?

उर्दू शायरी में फैज़ के बाद इरफान सिद्दीकी, मुनीर नियाजी, इफ्तेखार आरिफ और नासिर काजमी, निदा फाजली, शहरयार वगैरह का नाम महत्वपूर्ण है और कथा साहित्य में गोपी चन्द नारंग, शमसुर्रहमान फारूकी, रतन सिंह, रामलाल, आबिद सुहेल, इकबाल मजीद, शमयूल अहमद, तारिक़ छतारी, फैय्याज रफत आदि का नाम है, जिन्होंने उर्दू साहित्य में अपनी बौद्धिक प्रथा कलात्मक दृष्टि से अदब को नई दिशा से परिचित कराया।

बहुसंख्यक बनाम अल्पसंख्यक की मानसिकता उर्दू साहित्य को कहां तक प्रभावित करती है?

भाषा के बहुसंख्यक और अल्पसंख्यक वाले दृष्टिकोण ने दोनों भाषाओं अर्थात हिन्दी-उर्दू को काफी नुकसान पहुंचाया है। इसलिए दोनों के विकास के लिए इन दोनों भाषाओं को मुख्यधारा में लाने की आवश्यकता है। ऐसा करने से दोनों भाषाओं को खुलकर फलने-फूलने का मौका मिलेगा।

उर्दू में लिखे जा रहे साहित्य के व्यापक फैलाव में इसकी लिपि बाधा बनती है?

उर्दू में उच्चकोटि के साहित्य का सृजन किया जा रहा है। लेकिन उर्दू लिपि न जानने वाले इससे वंचित हैं यह बात किसी हद तक दुरुस्त भी है, इसलिए इसकी एक सूरत यह है कि उर्दू साहित्य का अनुवाद दूसरी भाषा में किया जाए, ताकि उससे लोग ज्यादा से ज्यादा फायदा ले सकें। ये समस्या केवल उर्दू भाषा के साथ नहीं, बल्कि दुनिया की बड़ी ज़बानों के साथ भी है।

उर्दू के साहित्यकार देवनागरी को अपनाएं, आप क्या कहेंगे?

मैं उर्दू को देवनागरी लिपि में लिखे जाने का क़ायल नहीं हूं। इसलिए कि इससे भाषा की बहुत हानि होती है, भाषा के विकास में रुकावट आती है और भाषा की आत्मा तथा गुणवत्ता लिपि बदलने के साथ लगभग समाप्त हो जाती है। मैं इसके लिए कतई तैयार नहीं हूं। लिपि ही भाषा की पहचान होती है। इसकी जिन्दा मिसाल फिल्में हैं, जो उर्दू में होने के बावजूद हिन्दी फिल्में कही जाती हैं।

इधर हिंदी-उर्दू की भाषा राजनीति कुछ ठंडी-ठंडी चल रही है, सच है?

यह बात तो दुरुस्त है कि हिंदुस्तान की हर उस चीज़ का तेजी के साथ राजनीतिकरण किया गया है, जिससे ज्यादातर लोगों के आस्था, श्रद्धा, धर्म, समाज, अर्थव्यवस्था यहां तक कि भाषा को भी एक विशेष मानसिकता रखने वाले लोग उसे मज़हब के चश्मे से देखते हैं। इसलिए ये नरमी-गरमी हिंदुस्तान के सियासी उतार-चढ़ाव की तरह अपना अंदाज भी बदलती रहती हैं।

यूं तो लगभग सभी भारतीय भाषाओं के पाठकों में कमी हो रही है, उर्दू के पाठकों का क्या हाल है?

वर्तमान दौर में ये स्थिति हिंदुस्तान की सभी भाषाओं के साथ है। इसके विभिन्न कारण हो सकते हैं, लेकिन इसका ये अर्थ कतई नहीं कि लोग हिंदुस्तान की प्रसिद्ध भाषाओं से अपना रास्ता अलग कर चुके है। अगर कोई ये सोचता है तो गलत है। हां हिंदुस्तान के जानी-मानी भाषाएं आधुनिक टेक्नालॉजी के विचित्र परिवेश में गुजर रही है, लेकिन समय के साथ इसमें अधिक सुधार की सम्भावनाएं पायी जाती हैं। उर्दू भाषा की वर्तमान स्थिति इतनी अच्छी नहीं जितनी अच्छी दिखाने की कोशिश की जा रही है। इसका सबसे बड़ा कारण भाषा का राजनैनिक दृष्टिकोण जिसने उर्दू जैसी मिली-जुली तहजीब का प्रतिनिधित्व करने वाली भाषा को केवल मुसलमानों से जोड़कर उसका राजनीतिकरण कर दिया। जिसकी वजह से हिन्दुस्तान का एक बड़ा तबका मजहब के नाम पर उससे दूर हो गया है। हालांकि लोग उर्दू जबान की शीरीनी (मिठास) और खूबियों की तारीफ जरूर करते हैं, लेकिन वो उसे सीखने से दूर नजर आते हैं। अब मौजूदा दौर में जदीद टेक्नालॉजी ने इस सोच को ग़लत साबित कर दिया। लोग उर्दू जुबान की तरफ आकर्षित हो रहे हैं। इंटरनेट के जरिए उर्दू सीख रहे हैं। उर्दू के लिए यह एक स्वस्थ संकेत है।

उर्दू की प्रचलित विधाओं पर कुछ कहें?

उर्दू की प्रचलित विधाएं जैसे शायरी में ग़ज़ल, नज़्म, नसरी नज़्में, कसीदा, मसनवी, मर्सिया, किता, रुबाई, वासोख्त इसी प्रकार कथा साहित्य में उपन्यास, लघु उपन्यास, कहानी, रिर्पोताज, नाटक, लघुकथाए तथा आलोचना। ग़ज़ल और नज़्म उर्दू को जिन्दा किए हैं। कसीदे की जगह अब सलाम ने ले ली, मर्सिये, किता, रुबाई आज भी लिखी जा रही है। कथा साहित्य में उपन्यास की जगह लघु उपन्यास एवं अफ़साने की जगह मिनी अफसाने ले रहे हैं।

गांधीजी ने भारत में सम्पर्क भाषा के तौर पर हिंदुस्तानी की वकालत की थी, क्या आज भी वह विचार उपयोगी है?

गांधीजी का नजरिया दुरुस्त था इसलिए कि हिंदुस्तान विविध आबादी वाल मुल्क है लिहाजा यहां की जनता का प्रतिनिधित्व यहां के सम्प्रदाय गंगा-जमुनी तहजीब से समझने और यहां के धार्मिक और सम्प्रदाय व सभ्यता को समझने के लिए हिन्दुस्तान की जुबान को विश्व भाषा के प्रेषण का माध्यम बनाए जाने की वकालत मुनासिब और बेहतर थी। गांधीजी चाहते थे कि हिंदुस्तानी जुबान अर्थात हिंदी और उर्दू अपनी-अपनी लिपि में लिखी जाए।

इधर कुछ राज्य क्षेत्रीय बोलियों, भोजपुरी आदि को स्वतंत्र भाषा के तौर पर दर्ज करने की वकालत कर रहे हैं आप क्या कहेंगे?

हिंदुस्तान में हजारों बोलियां बोली जाती हैं। स्पष्ट है कि जब किसी बोली का व्याकरण बन जाता है तभी वो भाषा की श्रेणी में आ जाती है। जुबान, समझने और समझाने का एक माध्यम होती है। अगर जिसकी अधिक क्षमता मौजूद होगी वो सम्प्रेषण के क्षेत्र में अपना अस्तित्व स्वयं बना लेगी। वर्ना किसी भाषा को केवल स्वतंत्र भाषा का दर्जा दिलाना या मिल जाने से कुछ नहीं होता।

हिंदी-उर्दू सहित भारतीय भाषाओं के भविष्य को आप किस नजर से देखते है?

हिंदी-उर्दू साहित्य का भविष्य बहुत ही रौशन है। इसलिए इन दोनों भाषाओं में गंभीरता से साहित्य सृजन करने वाली युवा पीढ़ी पूर्ण मनोदशा से अपना योगदान दे रही है। नौजवान नस्ल दिलचस्पी ले रही है। आखिर में मैं उर्दू सहाफत (पत्रकारिता) के बारे में कहना चाहूंगा कि मुल्क की जंगे आजादी में उर्दू पत्रकारिता ने जो भूमिका निभाई, उसे फरामोश नहीं किया जा सकता। आज भी उर्दू पत्रकारिता तमाम समस्याओं को उजागर करने में लगी रहती है। 'इंकलाब और जिंदाबाद' का नारा उर्दू ने ही दिया।

उर्दू है जिसका नाम हमीं जानते हैं 'दाग'
हिंदोस्तां में धूम हमारी जबां की है।

■

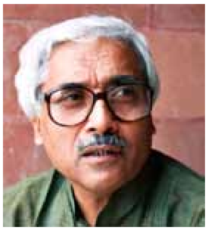

ध्रुव शुक्ल

११ मार्च १९५३ को सागर में जन्म। कवि-कथाकार के तौर पर पहचान। 'उसी शहर में', 'अमर टॉकीज' एवं 'कचरा बाज़ार' उपन्यास, 'खोजो तो बेटी पापा कहाँ हैं', 'फिर वह कविता वही कहानी', 'एक बूँद का बादल', 'हम ही हममें खेलें' कविता संग्रह, 'हिचकी' कहानी-संग्रह। मध्यप्रदेश के लोक-आख्यान और आदिवासी संस्कृति पर मोनोग्राफ के अलावा महात्मा गांधी की पुस्तक हिंद स्वराज्य पर पुस्तक लेखन। रामचरितमानस पर आधारित जल सत्याग्रह अभियान में सक्रिय। राष्ट्रपति द्वारा कथा एवार्ड, रज़ा फैलोशिप और कला परिषद् के रज़ा पुरस्कार से सम्मानित।

सम्पर्क : एम.आई.जी.-५४, कान्हा कुँज, कोलार रोड, भोपाल (म.प्र.) ईमेल - kavi.dhruva@gmail.com

प्रतीति की भाप

भाषा एक सेतु की तरह लगती है जिसे मन और बुद्धि के बीच बाँधना पड़ता है। पीड़ाओं के खारेपन में हिलुरते भवसागर में अपनी नौका खेते कवि की आँखें बार-बार भर आती हैं और छलककर सागर में झर जाती हैं। कवि की आँखों का स्रोत उसके हृदय में ही तो है जिस पर प्रतीतियों की भाप छायी रहती है और जैसे ही काव्य-प्रकाश इस भाप को वेधता है, हृदय पर एक खिड़की खुलती है, एक दर्पण जिसमें कवि अपना चेहरा निहारते हुए जल की पारदर्शी गहरायी में उन सीपियों को खोजता है जिनमें उसके आँसू पकते रहते हैं। जरूरी नहीं कि प्रत्येक सीपी में काव्य-मुक्ता रूप पक ही गये हों। वे अक्सर खाली होती हैं और उनमें काव्य-भ्रम भासता है। फिर जीवन जल के दर्पण से मुख हटाकर कवि उस मृग की तरह मन के मरुथल की रेत पर दौड़ता है जहाँ रह-रहकर रेत में लहर लेती रेत ही दीखती है – रेत पर ठिठकी हुई सूखी लहर उड़कर आँखों में भर जाती है और धीरे-धीरे हृदय स्रोत की तली में जमकर उसे उथला करती जाती है। जल में लहर लेता जल और रेत में लहर लेती रेत – अभिन्नता दोनों में है, एक में बहती हुई और एक में ठहरी हुई। ठिठकी हुई अभिन्नता शब्द और अर्थ से एक ऐसी दूरी बनाती है, जो रेत में ओझल जल की तरह है और जिसे बार-बार रेत उलीचकर उठाना पड़ता है। वहाँ शब्द और अर्थ की अभिन्नता का तरंगायित विलास नहीं झलकता। कवि का स्थायी निवास उसके हृदय का जल ही है और कविता नदी वहीं से निकलती है जो सदा विद्या के सागर में मिलने को आतुर है। भामिनी विलास का आरम्भ करते हुए पण्डितराज जगन्नाथ कहते हैं कि – माधुर्य की सीमा को प्राप्त होने वाली, पान करने में आनन्द देने वाली मेरी कविता संसार में अमृत है। प्रत्येक समय की काव्य-प्रवृत्तियाँ विद्यारूपी सागर के मंथन पर अवलम्बित रहती हैं। गुणात्मक न्याय से देखें तो प्रत्येक काल में कविता के बीते हुए युग भी वर्तमान बने रहते हैं और कवियों को अपने हृदय का जल मथने का अभ्यास भी बना रहता है। वे जल पर पड़ने वाली सृष्टि की विराट छवियों को अनादिकाल से मथते ही रहे हैं – कालिदास और तुलसीदास ने जल के दर्पण में ही निहारकर हिम और भूमिजा छवियों का मंथन किया है। अपनी कविता के भावक का जो रूप प्रेमी कवि घनानंद ने एक कबित्त में रचा है, वह भी जरा देखना चाहिए। वे कहते हैं कि – कविता हृदयभवन में मौन का घूँघट डाले अपने को छिपाये बैठी है। वह कोमल और मंजुल पदार्थों से सजी-सँवरी है। उसमें मृदु-मंजु रस और रूप बसे हुए हैं। उसके अलंकार उसकी देह पर बोझ नहीं, वे तो रस-दीप्ति के लिए हैं। यह कविता रसना की सखी है और यह सखी ही कविता को हृदय तक ले आती है। कविता को श्रवण की गलियों में अटकाये बिना सहृदयता की सेज तक पहुँचाती है। इस कविता दुल्हन पर वही रीझ सकता है जो सुजान ,प्रवीण और सहृदय है, वही अपनी काव्य-प्रतीति के अंक में भर उसे अपनी रस-प्रतीति की गोद में लेकर विलसता है –

उर भौन में मौन कौ घूँघट कै दुरि बैठी बिराजति बात बनी।
मृदु-मंजु पदारथ भूषन सो सु लसै हुलसै रस-रूप मनी।
रसना अली कान गली मधि ह्वै पधरावति लै चित सेज सनी।
घनआँनद बूझनि अंक बसै बिलसै रिझवार सुजान धनी।

हमारा समय मानससागर को मथकर जीवन को तत्त्वतः जानने के लिए लिए कितना कम उत्सुक दिखायी पड़ता है। वह तो रेत को मथकर तेल निकालने के लिए जाना जा रहा है। शायद इसीलिए कविता में छबियाँ लुप्त होती जा रही हैं वे संज्ञा की तरह प्रकट नहीं, सर्वनाम में ओझल हैं। संज्ञा की विशेषता खोजना पड़ती है और सर्वनाम कवियों को इस झंझट से छुटकारा दिला देता है। छबि मंथन करने वाले कवियों में विरक्त, भक्त और आसक्त – तीनों ही तरह के कवि होते आये हैं पर अभी बिलकुल अभी के कवियों को कोई और विशेषण देना पड़ेगा। फिलहाल उन्हें विभक्त कहना ही ठीक हो। फिर भी यह उम्मीद तो कवियों से अभी भी है कि वे काल

कवि का स्थायी निवास उसके हृदय का जल ही है और कविता नदी वहीं से निकलती है जो सदा विद्या के सागर में मिलने को आतुर है।

भारत में कवियों की गरीबी आयातित है और उसे अपने दर्शन और काव्य की समृध्द परम्परा के सान्निध्य से बेशक दूर किया जा सकता है। जब अराजक वैभव का पागलपन सिर चढ़कर बोल रहा है और प्रतिभा बिकाऊ है तब प्रतिभा को प्रज्ञा की ओर उठा सकने वाली साहित्य साधना की जरूरत बनी ही रहेगी।

पाकर शब्द और अर्थ की सम्पृक्ति से फिर भर उठेंगे।

संस्कृत काल को पुरातन, भक्तिकाल को पुनरुत्थान और रीतिकाल को सामन्तवाद की काल कोठरी में डालकर कविता की अहल्या भूमि को नहीं जोता जा सकेगा। हकीकत तो यह है कि प्रत्येक समय में रामायण पढ़ने से उजड़ी हुई अयोध्या आबाद हो जाती है। आचार्यगण कहते हैं कि कुछ काव्य ऐसे होते हैं जो एक मण्डल तक ही सीमित रह जाते हैं, कुछ ऐसे होते हैं जो प्रजा को व्यापते हैं और कुछ ही होते हैं जो जगत को व्यापते हैं। पर अभी हमारे समय की कविता तो मण्डल में ही सिमट गयी है और कभी-कभी तो वह केवल कवि के प्रभामण्डल में ही सिमटी और शरमायी-सी दिखायी देती है। सबकी बोली-ठोली, लाग-लपेट, टेक-भाषा, मुहावरा-भाव, आचरण-इंगित, भोली-भूली इच्छाएँ, बिखरा हुआ रूप सौन्दर्य, विविध तरंग-भंग करती लहराती-गाती स्वरधारा, मनुष्य, आवारा, गृही, सभ्य-असभ्य, शहराती-देहाती और इतिहास विश्व का – इन सबको हमारे ही समय के कवि त्रिलोचन कविता के घर में आ बसने का निमंत्रण देते हैं। कविता में इतनी छबियों को निमंत्रित करने के लिए कवियों के पास बड़ा शब्द निवेश होना चाहिए। कवियों की गरीबी रामायण पढ़े बिना दूर नहीं हो सकेगी ।

भारत में कवियों की गरीबी आयातित है और उसे अपने दर्शन और काव्य की समृध्द परम्परा के सान्निध्य से बेशक दूर किया जा सकता है। जब अराजक वैभव का पागलपन सिर चढ़कर बोल रहा है और प्रतिभा बिकाऊ है तब प्रतिभा को प्रज्ञा की ओर उठा सकने वाली साहित्य साधना की जरूरत बनी ही रहेगी। वाग्वैभव पर जैसे किसी का ध्यान ही नहीं। ज्यादातर साहित्य वाग्दारिद्रय से ग्रस्त होकर मनुष्य की काव्य संवेदना को कोई पोषण ही नहीं दे पा रहा है। अनेक प्रकार के दारिद्रय में प्रजा को पालते राज्य से अप्रसन्न होकर कविगण भले ही यह कहते फिरें कि – आप महाराज हैं तौ हों हूँ कविराज हौं। सिर्फ इतना कह देने भर-से कवि की सत्ता प्रमाणित नहीं होती। समकालीन सत्ता और साहित्य, दोनों ही दरिद्रता के अहंकार को ढो रहे हैं। अपने-अपने क्षीण आभामण्डल में एक-दूसरे को आपस में कोस रहे हैं।

कविवर शमशेर बहादुर सिंह की एक कविता याद आ रही है, जिसका शीर्षक है – सुन के ऐसी ही-सी एक बात। इस कविता को उन्होंने हिन्दी साहित्य में गुटबंदी के किसी घृणित रूप की प्रतिक्रिया में विवश होकर लिखा होगा -

क्या यही होगा जवाब एक कलाकार के पास
रख्खा जायगा कलम जूती ओ पैजार के पास
क्या यही जोड़े हैं संस्कार के संस्कार के पास
क्या यही संकेत हैं साहित्य के व्यापार के पास
सुन के ऐसी ही-सी इक बात...
क्या कहूँ, बस, अब।
दुख और कष्ट से मैं सोच रहा था यह सब।
नये मानों की, नये शिल्प, नये चेतन की
नये युग लोक में क्या अब यही व्याख्या होगी
जो कला कहती थी – जय होगी तो होगी मेरी।
आज अधरों पे है उसके ही यह कैसी बोली
इन बड़ों का नहीं साहित्य का सिर झुकता है।
अपने पाठक के ये हैं – सोचते दम रुकता है।
देवताओ मेरे साहित्य के युग-युग के, सुनो –
साधनाओं की परम शक्तियो, इतना वर दो,
(अपने भक्तों की चरणधूलि जो समझो मुझको)
एक क्षण भी मेरा व्यय ऐसों की संगत में न हो।
एक वरदान यही दो जो हो दाया मुझ पर,
स्वप्न में भी न पड़े ऐसों की छाया मुझ पर।

कौन जाने शमशेर जैसे संवेदनशील कवि को किस घृणित साहित्यिक घटना ने इतना आहत किया होगा कि उन्हें यह संकल्प करना पड़ा – जहाँ साहित्य का सिर झुकता है, ऐसी कोई छाया मुझ पर न पड़े। शमशेर ऐसी ही छाया से बचकर अपने जीवन से वह कविता पा सके, जो बेमिसाल है। शमशेर के हृदय से फूटी कविता के आईने में कवि अपना चेहरा जरूर देखते होंगे। पर आज कवियों की फेस-बुक से जो चेहरे स्क्रीन पर दिखायी पड़ रहे हैं, उनमें से बहुत से शमशेर के काव्य दर्पण में भी अपना चेहरा कहाँ देख पा रहे होंगे। बाजार के लोभ ने किसी भी समय कवियों को बड़ा नहीं बनाया। बाजार उस आधुनिक मारीच की तरह अनुभव में आता है जो कवियों को उनकी प्रकृति से दूर लिए चला जा रहा है और बाजारू बहुरूपिये कविता को अकेली पाकर न जाने कहाँ लिये जा रहे हैं। साहित्य के देवताओ, साधना की परम शक्तियो और साहित्य के आधुनिक पीठाधीश्वरो सुनो, शमशेर की आवाज सुनो।■

हम जो समझा किये - पुस्तक से एक अंश

प्रो. डॉ. पुष्पिता अवस्थी

कानपुर में जन्म। पढ़ाई राजघाट, वाराणसी के प्रतिष्ठित जे. कृष्णमूर्ति फाउण्डेशन में हुई। १९८४ से २००१ तक वसंत कॉलेज फ़ॉर विमैन के हिन्दी विभाग की अध्यक्ष रहीं। सूरीनाम में आयोजित सातवें विश्व हिन्दी सम्मेलन की संयोजक। तीन दर्जन से अधिक पुस्तकें प्रकाशित। विभिन्न साहित्यिक विभूतियों पर डॉक्यूमेंटरी फिल्मों का निर्माण। जापान, मॉरिशस, अमेरिका, इंग्लैंड सहित अनेक यूरोपीय और कैरिबियन देशों में काव्य-पाठ। सम्प्रति - नीदरलैंड स्थित 'हिन्दी यूनिवर्स फाउंडेशन' की निदेशक हैं।

सम्पर्क : Postbus 1080, 1810 KB Alkmaar, The Netherlands. email : info@pushpitaawasthi.com

मन की बात

निज भाषा-लिपि स्वाधीनता का मूलाधार

पराधीनता का चित्त और चेतना से गहरा रिश्ता है। पराधीनता व्यक्ति को जितना पीड़ित और प्रताड़ित करती है। इसके विपरीत, स्वाधीनता उतना ही आह्लादित करती है वह फिर, राजनीतिक हो या व्यक्तिगत। स्वाधीनता वस्तुतः अन्तश्चेतना के आनंद का सृजनात्मक निनाद है।

भारत के अपने स्वाधीनता-संघर्ष के साथ-साथ हिन्दी भाषा अफ्रीका के मुक्ति आंदोलन में भी सहायक हुई। हिन्दुस्तानी हिन्दी भाषियों ने पूर्वी अफ्रीका, फीजी में दासता, वर्णभेद और उपनिवेशवाद के विरुद्ध सिर उठाया। उसके मानस में श्रीरामचरित मानस की पंक्तियों का शंखनाद हो रहा था- पराधीन सपनेहुँ सुख नाहीं। उन्होंने ही अपने-अपने तरीके से अपने-अपने रूप में हिन्दी को विश्व-भाषा बनाया और सत्ता के चरित्र को चुनौती दी। उपनिवेशवाद से मुक्ति और सामान्यजन की प्रतिष्ठा की। उस चेतना की प्रमुख वाहिका हिन्दी भाषा परिवार की बोलियां बनीं। जिन्होंने मशाल होने की मिसाल कायम की। विदेशों में बसे हिन्दी मूल के भारतीयों के मन में भारत की अस्मिता, सांस्कृतिक, आध्यात्मिक, नैतिक स्मृति उन्हें हिन्दी से जोड़ती है, जो रह-रहकर जताती रहती है- पराधीन सपनेहुँ सुख नाहीं। फिर वह पराधीनता चाहें भाषा की हो या संस्कृति की।

वर्तमान सदी की शुरुआत मेरे जीवनकाल में लातिन अमेरिका देश के उत्तरी शीर्ष पर स्थित सूरीनाम देश से हुई। समय में भारतीय संस्कृति और हिन्दी भाषा के बीजों को मैंने वहीं के हिन्दुस्तानी समाज के मन-मानस में बोए। तब से, लगातार हिन्दी-भाषा-साहित्य की सांस्कृतिक खेती में संलग्न हूं। विश्व के भारतवंशी बहुल देशों के साथ-साथ यूरोप तथा कैरीबियाई देशों में हिन्दुस्तानी बनाम हिन्दी भाषा और भारतीय संस्कृति की फसल खड़ी की है। जिसका उन देशों के हिन्दुस्तानी समाज से गहरा रिश्ता है।

भाषा ही संस्कृति की संवाहिका है। वह अपने समय और समाज की सम्पूर्ण संस्कृति लेकर चलती है। संस्कृत के माध्यम से भारतीय दर्शन और संस्कृति का सूर्य यूरोप में प्रकाशित

हुआ। किन्तु, भारतवंशी बहुल देशों में यदि विश्व के पश्चिमी गोलार्द्ध से अवलोकन प्रारंभ करें तो सूरीनाम, ट्रिनीडाड, गयाना, कुरुसावा, सेन्ट लूशिया, इंग्लैंड, नीदरलैंड, दक्षिण अफ्रीका, मारीशॅस, युगांडा, केनिया, फीजी आदि देशों के हिन्दुस्तानियों में खान-पान, रहन-सहन और भाषा-संस्कृति में हिन्दुस्तानियत की अपनी पहचान के कारण दिनों-दिन हिन्दी-संस्कृति का वर्चस्व बढ़ता जा रहा है। क्योंकि वे जानते हैं कि विदेशों में स्वदेश और स्व की भाषा-संस्कृति को धारण करके ही परदेश और संस्कृति के पराधीनता के दुःख पर विजय हासिल की जा सकती है। इस समय, इन देशों में

भाषा की स्वाधीनता उसकी अपनी लिपि में ही संभव है। यदि कोई भाषा या लिपि किसी अन्य देश, जाति, धर्म या समुदाय की भाषा के नियंत्रण में है तो वस्तुतः वह उस भाषा की पराधीनता की द्योतक है और इससे यह स्पष्ट होता है कि उस समुदाय की वह भाषा किसी-न-किसी रूप में उस भाषा पर निर्भर है। यह निर्भर करना ही अपनी भाषा को गिरवी रखना है

हिन्दी-संस्कृति के मार्फत ही विश्व में भारतीय संस्कृति की लुभावनी और मोहिनी छवि उभर रही है। हिन्दी को 'इन्डी' और 'इंडिया' से भी सम्बद्ध करके प्रचारित करना चाहिए। 'इंडिया' नामधारी भारत ही है। विदेशियों द्वारा 'इंदिया' ही संबोधित किया जाता है। इस तरह से हिन्दी का 'इंडिया' से एक भाषायी और सांस्कृतिक रिश्ता उभरकर आता है।

सूरीनाम सहित भारतवंशी बहुल अन्य देशों की आबादी में हिन्दुस्तानी समाज की बहुलता है। वे मिलने पर आपस में हिन्दुस्तानी बोली में ही निःसंकोच संवाद करते हैं उन्हें इस बात की कतई परवाह नहीं रहती है। इनके आसपास या अगल-बगल में किस भाषा और देश का व्यक्ति खड़ा है। इस तरह से हिन्दुस्तानी समाज विदेश में भी भाषा और संस्कृति के स्तर पर पूर्णतः स्वाधीन है जबकि भारत देश के मध्य वर्ग परिवारों के बच्चे तक हिन्दी नहीं बोलते हैं कि कहीं उन्हें पिछड़ा हुआ या गंवारू न समझा जाये। जबकि विदेशों में पीढ़ियों से रह रहा भारतवंशी यह बखूबी जानता है कि भाषा और संस्कृति की पराधीनता से अधिक पीड़ादायी जीवन में और कुछ नहीं है क्योंकि इसमें व्यक्ति के मन-मानस की पराधीनता सन्निहित रहती है। जिसे सिर्फ संवेदनशील होकर महसूस करने की आवश्यकता है।

सूरीनाम की संस्कृति में अनेक देशों की संस्कृतियों का सम्मिश्रण है। वहां के हिन्दुस्तानियों की अपनी बोली सरनामी भाषा है। भोजपुरी, अवधी, मैथिली और वहां पर पचासों वर्षों से उनके साथ रह रहे नीग्रो, चायनीज, जावानीज और डच भाषा के नागरिकों के शब्द जो सरनामी जीवन संस्कृति की धड़कन बन चुके हैं- हिन्दुस्तानियों की सरनामी भाषा का हिस्सा हो चुके हैं। कुछ वैसे ही जैसे प्रेमचंद के समय में उर्दू मिश्रित हिन्दी जबान हिन्दुस्तानी, पूरे देश भर में प्रचलित भाषा थी और जिसे गांधीजी ने पूरे देश की पहचानी जबान और भाषा माना।

डच कोलोनाइजरों द्वारा सूरीनाम में अपने जीवन को धान के बीजण के साथ रोपित किये जाने के बाद हिन्दुस्तानी समाज ने अपने खेतिहर जीवन-शैली के भीतर से बगैर माथे पर बल दिये हुए ही यह भाँप लिया था कि पराधीन सपनेहुँ सुख नाहीं। उनकी आत्मा की अनश्चेतना ने उनके चित्त और चेतना को मातृभूमि हिन्दुस्तान छोड़ने के साथ ही सजग और सतर्क कर दिया था। इस तरह मजदूरी और जीवन-यापन तो उनकी धरती पर करते थे लेकिन फल, फसल, भाषा और धर्म-संस्कृति की उपासना में वे अपनी मातृभूमि को शामिल रखते थे, जिससे उनका खानपान, रहन-सहन, लोक-जीवन, भाषा और लोकसंस्कृति प्रदूषित और संक्रमित होने से बच सके। अपनी हिन्दुस्तानी (कुलीकॉलोनी) कॉलोनियों की झोपड़ियों के भीतर किसी विदेशी संस्कृति को नहीं घुसने दिया। जिससे उनके तन-मन और धन के भीतर उनकी अपनी हिन्दुस्तानी भाषा और संस्कृति बनी रह सकी। जिस कारण यह अपनी रातों में नींद, चैन और स्वाधीन निजता के सपने को संरक्षित कर सके जो आज भी इनके जीवन में सुरक्षित है।

भारतवंशी किसानों की मजदूरी में खटती पिसती हिन्दुस्तानी जनता यह बखूबी समझ चुकी थी कि विदेश में जीने की विवशता की पराधीनता के बावजूद अपनी अन्तश्चेतना में निज भाषा-संस्कृति की लौ जलाये रखेंगे तो स्वाधीनता का प्रकाश सहज ही अनुभव होता रहेगा। इसी एक भाव-बोध के साथ इन्होंने अपने जीवन में अपनी मातृभाषा, राष्ट्रभाषा, लोकभाषा, लोकचाल, लोकगीत लोक कला, लोक परम्पराओं के साथ अपनी धर्म-संस्कृति को साधा और उसी में अपनी जीवन की साधना की। देह, उनकी भले ही मजदूरी के मूल्यों पर पराधीन रही पर अपनी आत्मा, चित्त और चेतना की ताकत को पराधीन नहीं होने दिया। इस तरह अपनी सचेत संकल्प शक्ति के बल पर अपनी हिन्दुस्तानी बनाम भारतीय संस्कृति की दुर्लभ पहचान बना सके हैं। जिसके अस्तित्व और अस्मिता का संकट भारत देश तक में गहराया हुआ है।

भारतवंशियों के पुरखों की दृढ़ संकल्पशक्ति और दृढ़धर्मिता का ही परिणाम था कि उन्हें उनकी अलग से कॉलोनियां बनानी पड़ी थी। जहां कुली स्कूल खोलने पड़े थे। धर्म, संस्कृति और भाषा की पढ़ाई के लिये अध्यापक और

एक नीग्रो व्यक्ति द्वारा हिन्दुस्तानी बोली-बानी सुनते हुये जैसे अटपटा लगता है, वैसे ही हिन्दी भाषा को रोमन देह में ढले हुए देखकर आँखों की आत्मा को विचित्र और असह्य लगता है। इसके साथ ही देवनागरी लिपि के ज्ञान के अभाव में वे समकालीन हिन्दी भाषा और साहित्य के चाल-चलन से अपरिचित रह जाते हैं।

पंडित रखने पड़े थे। इसके बाद से लेकर अब तक भारतीय संस्कृति के लिये चार-पांच पीढ़ियों से स्वैच्छिक संस्थाओं और भाषा, कला, संगीत नृत्य के उपासक कार्यकर्ताओं के द्वारा स्वैच्छिक रूप से साप्ताहिक स्कूल चल रहे हैं जिसकी कक्षाएं वहां के डेढ़ सौ से अधिक सनातनी और आर्य समाजी मंदिरों और पैंतीस से अधिक मस्जिदों में पूरे उत्सव समारोह के साथ आज भी चल रहे हैं।

सूरीनाम और नीदरलैंड देश के भारतवंशियों द्वारा अपने पुरखों द्वारा अर्जित हिन्दुस्तानी बोली बनाम सरनामी भाषा इस समय सभी अवसरों पर सक्रिय है। यह इन देशों के जन-जीवन की गतिशील संजीवनी भाषा है। सूरीनाम देश उनकी मातृभूमि है जिसे वे सरनाम देश पुकारते हैं और सरनामी भाषा उनके अपने मन के स्वदेश की प्राणदायी भाषा है। सरनामी बनाम हिन्दुस्तानी उनके मातृहृदय की मातृभाषा है, जिसमें उन्हें अपने चित्त के पराधीन होने की अनुभूमति नहीं होती है।

संचार माध्यमों के समय में कम्प्यूटर नेट वर्किंग के प्रकोपकाल में यूं तो हिन्दी वर्तनी भी रोमनी लिपि की काया में ढल रही है लेकिन हिन्दी साहित्य की सभी विधाएं अपना मौलिक विकास देवनागरी लिपि में कर रही है। देवनागरी, लिपि में हिन्दी साहित्य के लाखों प्रकाशक हैं। डिजीटल दुनिया में हिन्दी लिपि के साहित्य का प्रभुत्व और वर्चस्व बढ़ता जा रहा है। उच्चारण किसी भी भाषा और संस्कृति की वाणी का प्राणतत्व है तो लिपि की अपनी निजता है जो किसी भी भाषा की देह है। देह बिनु होई न प्रीत। देह के अस्तित्व के बिना किसी भी भाषा की संस्कृति से प्रीत असंभव है। बिना दैहिक वजूद के भाषा की स्थायी पहचान और भविष्य संभव नहीं है। बिना अस्तित्व के अस्मिता कैसे अपना आकार ले सकती है? ब्रिटिश सहित यूरोप के अन्य देशों की भाषाओं की निजी लिपि रोमन है। उन्हें हिन्दी या चायनीज लिपि में वैसे ही नहीं प्रकट किया जा सकता है जिस तरह से उनका अपना वजूद उनकी अपनी भाषा में सांस लेकर धड़क रहा है। वैसे ही हिन्दी भाषा को रोमन-लिपि में पूर्णतः और शुद्धतः वैसे ही नहीं लिखा जा सकता है। वस्तुतः भाषा की स्वाधीनता उसकी अपनी लिपि में ही संभव है। किसी भी देश, जाति, धर्म या समुदाय की भाषा है तो वस्तुतः वह उस भाषा की पराधीनता की ही द्योतक है और इससे यह स्पष्ट होता है कि उस समुदाय की वह भाषा किसी-न-किसी रूप में उस भाषा पर निर्भर है। यह निर्भर करना ही अपनी भाषा को गिरवी रखना है और स्वयं को अस्तित्वहीन बनाना है और अस्तित्वहीन भाषाओं पर हमेशा अस्मिता का संकट मंडराता रहता है। इसके साथ ही वह समुदाय भी सांस्कृतिक स्तर पर आत्मनिर्भर और स्वाधीन नहीं हो पाता है।

भाषाएं ही संस्कृति की जननी और धारिका है। वे ही संस्कृति का पोषण कर सकती है और सभ्यताओं का श्रृंगार करती है। परनिर्भर-लिपि की स्थिति में भाषा का अस्तित्व और अस्मिता हमेशा संकट में रहेगी। किसी भी भाषा का लिपि के स्तर पर दूसरी भाषा पर निर्भर करना उस भाषा की पराधीनता और दासता का द्योतक है इसलिए विश्व के भारतवंशी बहुल देशों की हिन्दी भाषा परिवार की बोलियों और भाषा को बचाना अनिवार्य है। क्योंकि लिपि विहीन भाषा की पहचान हमेशा संकट में रहेगी।

लिपि के स्तर पर निर्भर भाषाओं के अस्तित्व को देखकर ऐसा लगता है जैसे वे व्याकुल होकर गुहार लगा रही हो। रह-रहकर निवेदन कर रही हों- मेरी भाषा की देह की रक्षा करो यदि उसको दूसरी भाषा की लिपि प्रदान की जायेगी तो कुछ समय बाद वह खुद ही वजूदहीन होकर मिट जायेगी। भाषाएं जैसे कैसे कह रही हों यदि तुम्हारी वाणी सोंधी भारतीयता की हो और तुम्हारी देह यूरोपीय साँचे में ढाल दी जाये तो तुम्हें कैसा लगेगा? वैसी ही दारुण दुर्दशा की अनुभूति हमें होती हैं।

एक नीग्रो व्यक्ति द्वारा हिन्दुस्तानी बोली-बानी सुनते हुये जैसे अटपटा लगता है, वैसे ही हिन्दी भाषा की रोमन देह में ढले हुए देखकर आँखों की आत्मा को विचित्र और असह्य लगता है। इसके साथ ही देवनागरी लिपि के ज्ञान के अभाव में वे समकालीन हिन्दी भाषा और साहित्य के चाल-चलन से अपरिचित रह जाते हैं। लिपि ज्ञान के अभाव और अपहचान के कारण वे हिन्दी भाषा परिवार के सदस्य होकर भी हिन्दी भाषा साहित्य परिवार से अनचाहे ही अलग-थलग हो जाते हैं और वह हिन्दी भाषा दूसरे देश की, द्वीप की भाषा बनकर रह जाती है। भारत देश की हिन्दुस्तानी, परिवार की सदस्य बनने से रह जाती है और इस तरह अकेली होती जाती है। इस तरह वह अपने समय के समकालीन साहित्यकारों के लेखन से मित्रता गाँठने में असफल हो जाती है। ■

डॉ. अमिता कौंडल

हिमाचल प्रदेश में जन्म। सूक्ष्म एवं आण्विक जीव विज्ञान में पी.एचडी। पोस्ट डॉक फैलो के पद पर कार्यरत। स्कूल-कॉलेज में कविता पाठ, वाद-विवाद, भाषण, निबंध लेखन, नृत्य व अभिनय प्रतियोगिताओं में भागीदारी। कवितायें लिखती हैं एवं इंटरनेट की पत्रिकाओं में सृजन-सक्रिय हैं। सम्प्रति - अमेरिका में निवास।

सम्पर्क : a75_kaundal@yahoo.com

मेरे प्रिय लेखकों की रचनाएँ

बड़ी बारीकी और सादगी से कहानीकार ने दीनता को प्रस्तुत करते हुए स्थापित किया है कि दुनियादारी में सारा सम्मान, रिश्ते-नाते, बर्तन व्यवहार केवल एक ही चीज़ पर आधारित है कि आप धन से कितने समृद्ध हो? व्यक्ति की शिक्षा, आचार-विचार या व्यवहार की कोई क़ीमत नहीं है यदि वह धनी नहीं है।

हिंदी साहित्य में बहुत कृतियाँ हैं जो मेरी नज़र में श्रेष्ठ हैं उनमें से कुछ का उल्लेख मैं यहाँ कर रही हूँ यशपाल की 'दीनता का प्रायश्चित्त' हिंदी साहित्य की मेरी सबसे पसंदीदा और श्रेष्ठतम कहानी है। यह कहानी मैंने उच्च विद्यालय में हिंदी कक्षा में पढ़ी थी। इस कहानी ने उस समय मेरे हृदय में हिंदी साहित्य के प्रति एक अलग ही सम्मान पैदा कर दिया। बड़ी बारीकी और सादगी से कहानीकार ने दीनता को प्रस्तुत करते हुए स्थापित किया है कि दुनियादारी में सारा सम्मान, रिश्ते-नाते, बर्तन व्यवहार केवल एक ही चीज़ पर आधारित है कि आप धन से कितने समृद्ध हो? व्यक्ति की शिक्षा, आचार-विचार या व्यवहार की कोई क़ीमत नहीं है यदि वह धनी नहीं है।

शिव मंगल सुमन की कविता 'हम पंछी उन्मुक्त गगन के' मेरी सबसे प्रिय कविता है। इसी कविता ने मुझे कविताएँ लिखने को प्रेरित किया। इसमें एक पक्षी की पीड़ा को कवि ने इस तरह व्यक्त किया है कि पढ़ने वाला पराधीनता की पीड़ा को व्यक्तिगत जीवन से चाहे वह नारी का जीवन हो या अनाथ बालक का। प्रवासी का हो या फिर पराधीन राज्य के व्यक्ति का, गहराई से अनुभव करता है। केवल यही नहीं इस कविता में प्रकृति की सुंदरता और नभ की विशालता का व्याख्यान भी इतनी सुंदरता से किया गया है कि सच में जैसे मन उन्मुक्त गगन में उड़ने लगता है।

जैनेंद्र कुमार की कहानी 'अपना अपना भाग्य' जब मैंने पढ़ी थी तो कितने ही दिन उस कहानी के कथानक में घूमती रही थी। और नादान बच्चे की उस असामयिक और अमानुषिक मृत्यु का दुःख मनाती रही थी। कितने ही दिन ग़रीबी से पीड़ित उस बच्चे की समस्या का समाधान ढूँढती रही थी।

माखनलाल चतुर्वेदी की 'पुष्प की अभिलाषा' हर बार नई लगती है। छोटी सी, प्यारी सी कृति, पढ़ते ही भारत की सुगन्ध का एहसास देती है।

तुलसीदास का प्रसिद्ध भजन 'ठुमक चलत रामचंद्र' भी मुझे बहुत प्रिय है। इसे पढ़ते हुए रामचंद्र की बाल लीला के दृश्य मानो आँखों के सामने साकार होने लगते हैं।

जयशंकर प्रसाद की 'हिमाद्री तुंग श्रृंग से' शायद इसलिए मुझे बहुत पसंद है क्यूँकि हिमालय के आँचल में पली बढ़ी हूँ और पर्वत की उस विशालता से भारत की स्वतंत्रता की पुकार मन मोह लेती है। इस कविता का पाठ रोम-रोम में देशभक्ति का रोमांच भर देता है। यही कुछ रचनायें हिंदी साहित्य की मेरी पसंदीदा श्रेष्ठ कृतियाँ हैं।■

डॉ. सुलभा कोरे

मुंबई विश्वविद्यालय से हिंदी साहित्य में एम.ए. और एस.एन.डी.टी. से पी.एच.डी.। मराठी कविता-संग्रह *स्पर्शिका, स्पर्श हरवलेले* तथा हिंदी कविता-संग्रह *एक नया आकाश, तासीर* प्रकाशित। मराठी और हिंदी पत्र-पत्रिकाओं में विगत दो दशकों से निरंतर लेखन। अनेक पुस्तकों का हिंदी-मराठी-अंग्रेजी में अनुवाद। विभिन्न सामाजिक-सांस्कृतिक गतिविधियों में सक्रिय भागीदारी। कई महत्वपूर्ण सम्मानों से सम्मानित। सम्प्रति - यूनियन बैंक ऑफ इंडिया में सेवारत।

सम्पर्क : ए-३१३-३१४, अर्जुन नगर कॉम्प्लेक्स, पाथर्ली रोड, डोंबिवली (पूर्व) जि. ठाणे-४२१२०१ ईमेल kore.sulabha@gmail.com

मन की बात

मेरी कुछ पसंदीदा किताबें

उम्र के साथ किताबें बदलीं, विषय बदले, दिलचस्पी, पसंद बदली। बहुत-सी बातें, किताबें समय के साथ भूलती गयी। लेकिन कुछ पढ़ी हुई किताबें आज भी जहन में कायम हैं। आज भी वे झकझोर देती हैं। उन किताबों में मौजूद व्यक्तित्व आज भी सामने आते हैं, याद दिलाते है अपनी।

पढ़ना मेरा शगल था। उस वक्त मैं बहुत छोटी थी, शायद दूसरी, तीसरी कक्षा में। पापा को पढ़ने का शौक था, वे लायब्ररी से पुस्तकें लाते थे। पुलिस की नौकरी, थककर आते थे और पढ़ते-पढ़ते सो जाते। उन्हें जासूसी कहानियाँ पढ़ना बड़ा अच्छा लगता था। उनके सोने के बाद ये जासूसी कहानियाँ मेरे कब्जे में आतीं थी और मैं किसी भूखे इंसान की तरह एक-एक कहानी को निगल लेती थी। मेरी पढ़ने की गति बड़ी तेज थी। पापा नींद से जागने से पहले ही मैं उस किताब को चट चुकी होती थी।

छोटे बच्चे रामायण, महाभारत की कहानियां, ऐतिहासिक कथाएं या परिकथाएं पढ़ते हैं, जबकि मेरी पढ़ने की शुरुआत जासूसी कहानियों से हुई। शायद उन दिलचस्प कहानियों की वजह से पढ़ने का एक चस्का-सा मुझे लग गया था। बचपन में जो भी मराठी किताब, अखबार, पत्रिका हाथ लग जाती थी, मैं पढ़ जाती थी। खाना खाते समय भी एक हाथ में किताब या पत्रिका रहती थी और हरदम मम्मी की डांट सुननी पड़ती थी कि 'खाते समय तो थाली में देखा करो।' जब हिंदी, अंग्रेजी के साथ जुड़ गए तब मराठी, हिन्दी या अंग्रेजी पत्रिकाएँ, अखबार तथा पुस्तकें सब कुछ मेरी पढ़ने की ललक के साथ जुड़ गया।

उम्र के साथ किताबें बदलीं, विषय बदले, दिलचस्पी, पसंद बदली। बहुत-सी बातें, किताबें समय के साथ भूलती गयी। लेकिन कुछ पढ़ी हुई किताबें आज भी जहन में कायम हैं। आज भी वे झकझोर देती हैं। उन किताबों में मौजूद व्यक्तित्व आज भी सामने आते हैं, याद दिलाते है अपनी। समझदारी की उम्र (हालांकि समझदार हुए हैं, ऐसा आज भी

आज भी जब मुझे अकेलापन महसूस होता है, आज भी जब शाम को सूरज ढलने के बाद और रात होने के बीच का समय लहराता रहता है, आज भी जब रात में कभी नींद नहीं आती है और दिल बेतहाशा रोने के लिए करता है लेकिन एक भी आँसू आंखों से ढुलकता नहीं, आज भी जब मैं थक हारकर हारने की कगार पर पहुँचती हूँ, आज भी जब मैं कभी कभार जिंदगी से बेजार हो जाती हूं, ये मेरी चुनिंदा किताबें और उन किताबों के वे संघर्षरत व्यक्तित्व सामने खड़े हो जाते हैं।

नहीं लगता) में कुछ किताबें ऐसी रहीं, जिन्होंने अपनी ऊर्जा से मुझे भर दिया। उन व्यक्तित्वों में जो सकारात्मकता या संघर्ष या जद्दोजहद थी, उसने मुझे अपनी जिंदगी में भी लड़ने के लिए प्रेरित किया। '७२ मील' स्व. अशोक वटकर, इस मराठी दलित लेखक की वह आत्मकथा या उपन्यास- आप इसे कुछ भी नाम दीजिए, जब भी मैंने इसे पढ़ा, इसने मुझे झकझोर कर रख दिया। इस किताब की नायिका-राधाक्का का संघर्ष मुझे अपना सा लगा। इसलिए इस किताब का अनुवाद करते समय, भाषा का एक नया चोगा उस किताब को पहनाते समय, कितनी ही बार मैं भरभरकर रो दी थी।

हालांकि इससे पहले भी मुझे मराठी के वि.स. खांडेकर जी के 'अमृतवेल' इस उपन्यास तथा शिवाजी सावंत के 'मृत्युंजय' इस कर्ण की कहानी ने हर बार गला रुंधने तथा आंखें भर-भर कर झरने के लिए मजबूर किया था। 'अमृतवेल' का देवदत्त, 'मृत्युंजय' का कर्ण मेरे हीरो बन गए थे।

फिर अचानक मार्गारेट मिशेल का Gone with the wind यह उपन्यास मैंने पढ़ा और वह कलोनियल माहौल, वह ब्रिटीशकालीन अदब, शिष्टाचार और इन सब बातों से भी स्कारलेट ओ हारा का वह चरित्र, वह वर्णन मुझे अपने साथ बहा ले गया। जिंदगी जितनी संघर्षों के लिए आजमा रही थी, उतनी ही शिद्दत से मेरे किताबी नायक और नायिकाएं मुझमें लड़ने, संघर्ष और चुनौतियों का सामना करने हेतु ऊर्जा भर रही थी।

'मुझे चांद चाहिए' यह किताब उम्र के उस मुकाम पर मेरे हाथ आयी थी, जब सब कुछ आकर्षक लगता है, तब नायिका के समर्पण, जुनून ने वशीभूत कर दिया था।

उम्र और अनुभवों के साथ जिंदगी आगे बढ़ रही थी और सआदत हसन मंटो की कहानियों ने और उन कहानियों में मौजूद विभीषिकाओं ने मुझे बिखरते बिखरते संवरने तथा जिंदगी की वास्तविकताओं के कठोर धरातल पर ला पटका। स्वार्थ और जिंदगी की संजीदगी का ऐसा मंजर मैंने न देखा था न सुना था। मंटो ने एक नई दुनिया मेरे सामने परोस दी थी। उस दुनिया से रूबरू होना मेरे लिए इतना कठिन गुजरा की, कोई भी कहानी मुझे सोने नहीं देती थी।

कविताएं, यात्रा-वर्णन, आत्मकथाएं भी मुझे पढ़ने के लिए आकृष्ट करती थीं और मैं उसी शिद्दत से पढ़ती जाती थी। यदि सबके बारे में लिखने जाऊं तो स्याही और कागज कम पड़ जाएंगे।

लेकिन इयान रैंड की बात ही कुछ अलग रही। 'We the living", "When Atlas shrugged", "Anthem" और "Fountainhead" अपनी इन चंद किताबों के जरिए इस लेखिका ने मुझे घेर लिया। इन किताबों के वे व्यक्तित्व, जीवन और सफलता के लिए उनका चलता संघर्ष और उस संघर्ष से उभरा उनका जीवन। जीवन जीने के लिए उनके द्वारा अपनाया गया दर्शन (यह दर्शन लेखिका ईयान रैंड का भी है) हमारे जीने का सामान बन जाता है। ये व्यक्तित्व, यह दर्शन मुझे कहीं दूरतलक ले गया, जहां मैं थी, सिर्फ मैं और मेरे जीने का अंदाज! इस 'मैं' ने मुझमें एक आत्मविश्वास, आत्मसम्मान भर दिया। अपने बलबूते पर जिंदगी जीने का विश्वास दिलाया।

आज भी जब मुझे अकेलापन महसूस होता है, आज भी जब शाम को सूरज ढलने के बाद और रात होने के बीच का समय लहराता रहता है, आज भी जब रात में कभी नींद नहीं आती है और दिल बेतहाशा रोने के लिए करता है लेकिन एक भी आँसू आंखों से ढुलकता नहीं, आज भी जब मैं थक हारकर हारने की कगार पर पहुँचती हूँ, आज भी जब मैं कभी कभार जिंदगी से बेजार हो जाती हूं, ये मेरी चुनिंदा किताबें और उन किताबों के वे संघर्षरत व्यक्तित्व सामने खड़े हो जाते हैं और मुझसे कहते हैं, 'सो जा अब... रात बहुत हो चुकी है।' और किसी लोरी के सुरों में अभिभूत और आप्लावित छोटे बच्चे की तरह मैं चुपचाप सो जाती हूं। सुबह जब भी मैं जाग जाती हूं मेरी नजर और बदन में मेरा पुरजोर विश्वास होता है।■

सपना मांगलिक

१७ फरवरी १९८१ को भरतपुर, राजस्थान में जन्म। एम.ए., बी.एड, डिप्लोमा एक्सपोर्ट मैनेजमेंट। प्रकाशित कृतियाँ : पापा कब आओगे, नौकी बहू (कहानी संग्रह), कमसिन बाला, कल क्या होगा, बगावत (काव्य संग्रह), जज्बा-ए-दिल (ग़ज़ल संग्रह), टिमटिम तारे, गुनगुनाते अक्षर, होटल जंगल ट्रीट (बाल साहित्य), बोन्साई (हाइकु संग्रह)। अनेक सम्मानों से सम्मानित।

सम्पर्क : एफ-६५९, बिजलीघर के निकट, कमला नगर, आगरा २८२००५ ईमेल - sapna8manglik@gmail.com

विमर्श

हिंदी वालों को कैसे जगाएं?

हम अपनी मातृभाषा बोलने में ठीक वैसे ही शर्माते हैं जैसे कि एक मजदूर औरत के खून पसीने कि कमाई से पढ़ लिखकर बाबू बना बेटा अपनी उसी मजदूर माँ को, माँ कहते हुए शर्माता है। हिंदी उस रानी की तरह है जिसे बाहर के राष्ट्र अपनी पटरानी बनाना चाहते हैं और उसका अपना राज्य और जनता उसे नौकरानी का तमगा दे चुकी है। आज हिंदी के घर में ही हिंदी की दुर्गति हो रही है। क्योंकि हम अपनी मातृभाषा की उपेक्षा कर फिरंगी बोलियों को बोलना ज्यादा श्रेष्ठ और गौरवान्वित करने वाला कार्य समझते हैं। और तो और आज भारत में साठ प्रतिशत व्यक्तियों को पूरी वर्णमाला सुनाने को कहा जाए तो वह निश्चित ही कहीं न कहीं जरूर अटकेंगे। क्योंकि हममें से अधिकांश ने न तो इसका व्याकरण कभी पढ़ने और समझने की कोशिश की और न ही इसकी पूरी शब्दावली से हम परिचित हैं। और जैसे-तैसे लिखने की कोशिश भी करते हैं तो लेखन में त्रुटियाँ ही त्रुटियाँ दिखाई देती हैं। भाषा की इसी अज्ञानता और अल्पज्ञान ने हमें हमारी संस्कृति और दुनिया की इस वैज्ञानिक भाषा से भी दूर कर दिया है। जिसके कारण हमारी पहचान नष्ट हो रही है।

हिंदी की दुर्दशा का एक कारण खुद इसके प्रचारक भी हैं। यह प्रचारक हिंदी का प्रचार करने के बहाने से कुकुरमत्तों की तरह से हिंदी-हितैषी संस्थाएं खोलकर बैठ गए हैं। इनका ध्येय सरकार से अनुदान हड़पना, अपना चेहरा चमकाना और बड़े-बड़े कार्यक्रमों का आयोजन कर प्रायोजकों से और प्रचार के भूखे साहित्यकार एवं लेखकों से लाभान्वित होना है। स्थिति कुछ ऐसी है कि जब हिंदी का कोई लेखक या प्रचारक किसी से मिलता है तो सामने वाले को लगता है कि कहीं हिंदी के प्रचार के नाम पर पैसे ऐंठने तो नहीं आया। और लोग उससे दूर भागने लगते हैं।

बड़े शहरों में हिन्दी से जुड़े साहित्यिक आयोजन दर्शकों के अभाव में दम तोड़ रहे हैं जबकि वहीं अंग्रेज़ी से जुड़े आयोजनों में बेतरतीब भीड़ उमड़ जाती है। आगरा में होने वाला ताज महोत्सव हो या प्रसिद्ध जयपुर लिटरेचर फेस्टिवल हर जगह हिंदी को उपेक्षित कर अंग्रेजी को ताज पहनाया जाता है। पिछले कुछ वर्षों में हिन्दी पत्रकारिता की स्तम्भ कही जाने वाली कई पत्रिकाएँ पाठकों की उपेक्षा के कारण दम तोड़ चुकी हैं जबकि अंग्रेज़ी की हर स्तरहीन और संस्कार विहीन पत्रिका भी फलफूल रही है क्योंकि अंग्रेज़ी कि दासता हमारी मानसिक कमजोरी बन चुकी है। हम किसी प्रकार से अंग्रेज़ी के विरोधी नहीं हैं, बल्कि हम तो सभी भाषाओं के हिमायती हैं लेकिन हमारा आग्रह सिर्फ़ इतना है कि राष्ट्र भाषा का यथोचित सम्मान करना बहुत ज़रूरी है क्योंकि यह हमारी अस्मत और पहचान से जुड़ी हुई है।

किसी भी राष्ट्र के विकास के लिए और उसकी अपनी विशिष्ट पहचान के लिए, उसकी राष्ट्र भाषा का सार्वजनिक प्रयोग बहुत ज़रूरी है पर अफ़सोस कि हम आज भी दूसरों के मापदण्डों से अपने को तौलते हैं और आज़ाद होते हुए भी गुलामों की तरह जीते हैं। जब तक हम अपनी मातृभाषा को

भारतवर्ष सांस्कृतिक, भौगोलिक और भाषाई दृष्टि से विविधताओं का देश है। इस राष्ट्र में किसी एक भाषा का बहुमत से सर्वमान्य होना निश्चित नहीं है। इसलिए भारतीय संविधान में देश की चुनिंदा भाषाओं को संविधान की आठवीं अनुसूची में रखा है। शुरू में इनकी संख्या १६ थी, जो आज बढ़ कर २२ हो गई हैं। ये सब भाषाएँ भारत की अधिकृत भाषाएँ हैं, जिनमें भारत देश की सरकारों का काम होता है।

हृदय से नहीं अपनाएंगे उसकी इज्जत नहीं करेंगे, उससे सामंजस्य नहीं बिठायेंगे, तब तक इस देश में अंग्रेजों की पूँछ अंग्रेजी आग लगाती रहेगी और भस्म कर देगी हमारे साहित्य को, हमारी भाषा के नामोनिशान को, हमारी गरिमा को और विश्व कि उस एकमात्र वैज्ञानिक, सहज-सरल भाषा को जो जैसे पढ़ी जाती है वैसी ही लिखी जाती है और ठीक वैसे ही बोली भी जाती है। हिंदी को बोलने वालों की संख्या के आधार पर विश्व की प्रथम भाषा होने का दर्जा दिया जाता है। डॉ. जयन्ती प्रसाद नौटियाल ने हिंदी को उसका हक़ दिलवाने के क्रम में काफी मेहनत मशक्कत भी की है। लेकिन अधिकारिक तौर पर हिंदी को यह दर्जा नहीं दिया जा सका है। यद्यपि विभिन्न सर्वेक्षणों में हिंदी विश्व की पाँच सबसे ज्यादा बोली जाने वाली भाषाओं में स्थान पाती रही है। आज हिंदी को बहुत से लोग राष्ट्रभाषा के रूप में देखते हैं। कुछ इसे राजभाषा के रूप में प्रतिष्ठित देखना चाहते हैं। जबकि कुछ का मानना है कि हिंदी संपर्क भाषा के रूप में विकसित हो रही है। हिन्दी का क्षेत्र विस्तृत है। हिन्दी सिर्फ इसीलिए ही विस्तृत नहीं है कि वह ज्यादा लोगों के द्वारा बोली जाती है बल्कि हिन्दी का साहित्य ज्यादा व्यापक है। उसकी जड़ें गहरी हैं। इसके मूल में हिन्दी की बोलियाँ और उन बोलियों की उपबोलियाँ हैं जो अपने में एक बड़ी परंपरा, इतिहास, सभ्यता को समेटे हुए हैं वरन स्वतंत्रता संग्राम, जनसंघर्ष, वर्तमान के बाजारवाद के खिलाफ भी उसका रचना संसार सचेत है।

राजभाषा शब्द सरकारी कामकाज की भाषा के लिए प्रयुक्त होता है। भारतीय संविधान में इसे परिभाषित किया गया है। अनुच्छेद ३४३ के अनुसार भारतीय संघ की राजभाषा देवनागरी लिपि में लिखी जाने वाली हिंदी होगी और अंकों का स्वरूप भारतीय अंकों का अंतरराष्टीय स्वरूप होगा। ध्यान रहे देवनागरी अन्य भारतीय भाषाओं यथा मराठी, नेपाली आदि की भी लिपि है। इस प्रकार केंद्र सरकार के कार्यालयों, उपक्रमों, निकायों व संस्थाओं की कार्यालयीन भाषा हिंदी है। जो राजभाषा के रूप में परिभाषित है। लेकिन राजभाषा होने के वावजूद भी हिंदी अब तक राष्ट्रभाषा का दर्जा नहीं पा सकी है। राष्ट्रभाषा से अभिप्रायः है किसी राष्ट्र की सर्वमान्य भाषा। क्या हिंदी भारत की राष्ट्रभाषा है? यद्यपि हिंदी का व्यवहार संपूर्ण भारतवर्ष में होता है, लेकिन हिंदी भाषा को भारतीय संविधान में राष्ट्रभाषा नहीं कहा गया है। चूँकि भारतवर्ष सांस्कृतिक, भौगोलिक और भाषाई दृष्टि से विविधताओं का देश है। इस राष्ट्र में किसी एक भाषा का बहुमत से सर्वमान्य होना निश्चित नहीं है। इसलिए भारतीय संविधान में देश की चुनिंदा भाषाओं को संविधान की आठवीं अनुसूची में रखा है। शुरू में इनकी संख्या १६ थी, जो आज बढ़ कर २२ हो गई हैं। ये सब भाषाएँ भारत की अधिकृत भाषाएँ हैं, जिनमें भारत देश की सरकारों का काम होता है। भारतीय मुद्रा नोट पर १६ भाषाओं में नोट का मूल्य अंकित रहता है और भारत सरकार इन सभी भाषाओं के विकास के लिए संविधान अनुसार प्रतिबद्ध है। आज हिन्दी का परचम पूरे विश्व में फैलाने की जरूरत है। हमारे युवा संचार क्रांति के माध्यम से इसका बीड़ा उठा चुके हैं बस अब बारी सरकारी महकमों और क़ानून की है जो हिंदी में राजकीय कार्य करवाकर और आधिकारिक रूप में हिंदी को राष्ट्रभाषा का दर्जा देकर उसे वो सम्मान दें जिसकी वो हकदार है।

जब विश्व के अन्य देश अपनी मातृभाषा में पढ़कर उन्नति कर सकते हैं, तब हमें राष्ट्र भाषा अपनाने में झिझक क्यों होनी चाहिए? हिंदी सिर्फ तभी राष्ट्रभाषा का दर्जा पा सकती है जब हम और हमारी सरकार ऐसा चाहेगी, बस जरूरत ऐसा चाहने भर की है। इसके लियी सर्वप्रथम तो हमारा राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर पत्र-व्यवहार हिन्दी में ही होना चाहिए। दूसरा आजकल सभी स्कूलों में बच्चों को अंग्रेजी पत्र-पत्रिकाएँ पढ़ने को कहा जाता है और न पढ़ने पर या गलत पढ़ने पर जुर्माना लगाया जाता है। अगर ऐसी सख्ती हिंदी के पत्र-पत्रिकाओं के सन्दर्भ में लगाई जाए तो आज के हमारे टूटी-फूटी अशुद्ध हिंदी पढ़ने बोलने वाले आधुनिक बालक जैसे फर्राटेदार अंग्रेजी बोलते हैं वैसी ही शुद्ध हिंदी भी लिखने-बोलने लगेंगे। जब हमारे विद्यार्थी हिन्दी प्रेमी बन जायेंगे तभी हिन्दी का धारावाह प्रसार होगा। ■

विनोद रिंगानिया
स्वतंत्र पत्रकार, गुवाहाटी, असम
सम्पर्क : bringania@gmail.com

विमर्श

सुनो गौर से हिंदी वालों

समृद्ध साहित्यिक विरासत वाली अवधी, भोजपुरी, राजस्थानी, मैथिली जैसी भाषाओं को यदि बोली मान लिया गया, तो सिर्फ इस वजह से कि इन भाषाओं के बोलने वालों ने हिंदी के विकास के हित में इसे सहर्ष स्वीकार कर लिया था।

हिंदी दिवस मनाने का प्रचलन करने वालों ने भले और कुछ भी सोचा होगा, लेकिन निश्चित तौर पर उन लोगों ने इस दिन की कल्पना इस रूप में नहीं की होगी कि इस दिन हिंदी की दुर्दशा (वास्तविक या काल्पनिक) पर सामूहिक विलाप किया जाए। कहीं हिंदी की स्थिति कहानी के उस भिखारी जैसी तो नहीं हो गई जो कभी बिना गद्दे और चादर के ही आराम से गहरी नींद सो लेता था। लेकिन कुछ दिनों के राजमहल के ऐश के बाद एक दिन उसे राजसी पलंग पर भी रात भर नींद नहीं आई। कारण यह पाया गया कि बिस्तर पर कपास का एक बीज रह गया था, जो उसे चुभ रहा था और नींद में बाधक बना हुआ था। कुछ यही हाल हमारी हिंदी का है। अनुकूल ऐतिहासिक परिस्थितियों में हिंदी अपने खड़ी बोली के छोटे से भौगोलिक दायरे से बाहर निकली और एक समय जब यह प्रश्न सामने आया कि भारत की एक अपनी राष्ट्रभाषा होनी चाहिए, वह भाषा कौन-सी हो सकती है, तब हिंदी को छोड़कर दूसरा कोई विकल्प ही नहीं था। जिन ऐतिहासिक परिस्थितियों की हम बात कर रहे हैं उनमें मुख्य है मुगल साम्राज्य का फैलाव और उसकी स्थिरता तथा बाद में चला स्वाधीनता संग्राम। खड़ी बोली का विकास और फैलाव स्वाधीनता संग्राम के साथ-साथ होता गया, इस पर शायद ही दो मत हों।

हिंदी के विकास में उन भाषाओं के बलिदान पर बहुत ही कम लिखा और कहा गया है जिन्हें आज हिंदी की बोलियां या उपभाषाएं मान लिया गया है। समृद्ध साहित्यिक विरासत वाली अवधी, भोजपुरी, राजस्थानी, मैथिली जैसी भाषाओं को यदि बोली मान लिया गया, तो सिर्फ इस वजह से कि इन भाषाओं के बोलने वालों ने हिंदी के विकास के हित में इसे सहर्ष स्वीकार कर लिया था। वरना ज्यादा नहीं पांच सौ साल पीछे भी जाएं तो खड़ी बोली आपको कहीं दिखाई नहीं देगी, जबकि (उदाहरण के लिए) अवधी, राजस्थानी, मैथिली जैसी भाषाएं उस समय साहित्यिक ऊंचाइयां छू रही थीं। दरअसल आज जिसे हिंदी प्रदेश कहा जाता है विकास की विभिन्न पायदानों पर खड़ी उस प्रदेश की भाषाओं-बोलियों ने हिंदी के अबाध विकास को अपनी सहमति दी थी और इस सहमति का मतलब यदि इन भाषाओं-बोलियों की अपनी मृत्यु था, तो वह भी उन्हें स्वीकार था।

हमारे परिवार में एक समय तीन पीढ़ियां तीन भाषाओं का व्यवहार करती थीं। हमारी दादी राजस्थानी के अलावा दूसरी भाषा नहीं बोल पाती थीं। उनकी स्कूली शिक्षा नहीं हुई थी। वे हिंदी, बांग्ला और असमिया समझ लेती थीं, लेकिन राजस्थानी के अलावा दूसरी किसी भाषा में जवाब नहीं दे पाती थीं। हमारे माता-पिता राजस्थानी और हिंदी दोनों भाषाओं का व्यवहार कर पाते थे। हम तक आते-आते राजस्थानी सिर्फ बोलचाल की भाषा बनकर रह गई। मां या बहन जैसे अंतरंग संबंध वालों, जिनके साथ हम हिंदी में बात करने की कल्पना भी नहीं कर सकते थे, को भी यदि पत्र लिखना होता तो हमारे पास हिंदी में लिखने के सिवाय कोई चारा नहीं था। कहने का तात्पर्य यह है कि जो कुछ भी औपचारिक था वह हिंदी में होने लगा। किसी सभा में श्रोता बनकर हम राजस्थानी में बात कर सकते थे, लेकिन माइक पर राजस्थानी का प्रयोग कल्पनातीत था।

यह वह समय था, जब हिंदी पट्टी की तथाकथित उपभाषाएं निश्चित मृत्यु की ओर सरक रही थीं। और यह सब इन भाषाओं के बोलने वालों की सहर्ष सहमति से हो रहा था। एक राष्ट्रभाषा के निर्माण में अपने योगदान को लेकर हिंदी पट्टी के लोग गर्वित थे। हम हिंदी की नवीनता की बात कर रहे थे। क्या आप ऐसे किसी बंगाली की कल्पना कर सकते हैं जो यह कहेगा कि मेरे दादा बांग्ला नहीं जानते। या कोई तमिल भाषी यह कहेगा कि मेरी दादी तमिल नहीं बोल सकतीं। लेकिन हम हिंदीभाषियों के अधिकांश परिवारों का सच कमोबेश यही है कि दो पीढ़ियों पहले हिंदी कहीं थी ही नहीं।

जितनी आसानी और स्वाभाविक प्रक्रिया के तहत हिंदी पट्टी की तथाकथित उपभाषाओं को हिंदी ने हटाया, उतनी आसानी हिंदी पट्टी के बाहर होना तो दूर, उल्टे वहां हिंदी को चुनौतियों का सामना भी करना पड़ा। खड़ी बोली हिंदी विकास की जिस पायदान पर खड़ी थी, बांग्ला, असमिया और तमिल जैसी भाषाएं उससे कहीं ऊंची पायदानों पर थीं। उनसे अपने व्यवहार के दायरे को संकुचित कर लेने की उम्मीद करना अव्यावहारिक था और ऐसा किया भी नहीं गया। इन हिंदीतर भाषाओं से सिर्फ यह अपेक्षा थी कि वे अपनी भाषा के साथ-साथ हिंदी को अपना लें और इस तरह इसे भारत की निर्विवाद राष्ट्रभाषा बनाने का रास्ता सुगम बना दे। हिंदी पट्टी की मातृभाषा बनने के बाद अब हिंदी का सामना पूर्णतः विकसित भाषाओं से हुआ था। इन भाषाओं का लंबे समय से आधुनिक व्यवहार की भाषा के रूप में उपयोग हो रहा था। उनसे यह अपेक्षा नहीं की जा सकती थी कि वे राजस्थानी, अवधी, मैथिली, भोजपुरी आदि की तरह अपने आपको सिर्फ बोलचाल की भाषा तक महदूद कर दे। फिर भी स्वाधीनता मिलने तक और उसके बाद भी लगभग एक दशक तक हिंदीतर क्षेत्रों में हिंदी सीखने की ललक थी और इस पर कोई विवाद नहीं था।

स्वाधीनता के पहले तक हिंदी सीखने के साथ स्वेच्छा का तत्व जुड़ा था। लेकिन स्वाधीनता के बाद हिंदी सीखने और इसके प्रयोग के साथ शासन द्वारा मिलने वाली सुविधा-असुविधा के मसले जुड़ गए। मसलन हिंदी प्रदेश आज भी अहिंदीभाषी प्रदेशों की कुछ शंकाओं के जवाब नहीं दे पाए हैं। ये शंकाएं हैं ः यदि केंद्र सरकार की भाषा सिर्फ हिंदी बन गई तो केंद्र की नौकरियों, राजनीति, शिक्षा आदि हर क्षेत्र में हिंदी वाले अहिंदी वालों की अपेक्षा एक लाभ की स्थिति में रहेंगे। इस तरह क्या हिंदी प्रदेश के लोग इन क्षेत्रों में (नौकरी, राजनीति, शिक्षा) छा नहीं जाएंगे! दूसरा प्रश्न है कि अहिंदी क्षेत्र वाले अपनी मातृभाषा के अलावा अंग्रेजी और हिंदी पढ़ते हैं, जबकि हिंदी वालों को सिर्फ हिंदी और अंग्रेजी पढ़नी पड़ती है। इस तरह अहिंदी क्षेत्र पर हिंदी क्षेत्र की बनिस्पत ज्यादा यानी तीन भाषाओं का बोझ पड़ जाता है। इसका हल अहिंदी क्षेत्र के लोग यह बताते हैं कि आप हिंदी और अंग्रेजी पढ़ें, हम भी हमारी मातृभाषा और अंग्रेजी पढ़ेंगे। यहां यह नोट करने वाली बात है कि इस तरह के प्रस्ताव हिंदी को हिंदी पट्टी की क्षेत्रीय भाषा के रूप में सीमित करके देखते हैं। जबकि अब तक हिंदी की महत्वाकांक्षाएं इतनी बढ़ चुकी हैं कि ऐसे प्रस्ताव उसे अपमानजनक लगते हैं।

बहरहाल, आज का सच यह है कि हिंदी भारत में एक बड़े भूभाग की मातृभाषा बन गई है। ४० करोड़ लोग इसे अपनी मातृभाषा बताते हैं। दूसरी ओर, अहिंदीभाषी राज्यों ने हिंदी को आज की हिंदी पट्टी तक ही सीमित कर दिया है। हिंदी के अश्वमेध का घोड़ा इन सीमाओं से बाहर नहीं निकल सका। हिंदी अपने क्षेत्र के बाहर उतनी ही फैल रही है जितनी इतने विशाल क्षेत्र और बोलने वालों की इतनी बड़ी संख्या से उत्पन्न दबाव के कारण अपरिहार्य है। मसलन, जो तमिल भाषी उत्तर भारत में रोजगार की संभावनाएं तलाशना चाहता है, वह हिंदी सीखने को फायदे का सौदा समझता है। इसी तरह चालीस करोड़ की मातृभाषा होने के नाते सेना में हिंदी वालों की बड़ी संख्या होना स्वाभाविक है और उनके संपर्क में आकर अहिंदीभाषी सैनिक भी हिंदी सीख जाते हैं, या उन्हें सीखनी पड़ जाती है। और अंततः हिंदी ऐसे लोगों के बीच फैलती है जो इसके फैलाव को रोकना चाहते हैं।

हिंदी का यह जो फैलाव हो रहा है, वह उसके संख्या बल से उत्पन्न दबाव के कारण स्वाभाविक रूप से हो रहा है। कदाचित ही हिंदी वालों को हिंदी को एक समर्थ भाषा बनाने के लिए सायास प्रयास करते देखा जाता है। उदाहरण के लिए हिंदी प्रदेश का क्या एक भी विश्वविद्यालय इतना समर्थ नहीं हो सका कि दक्षिण या पूर्वी भारत में अपना कैम्पस स्थापित कर वहां हिंदी विषय या हिंदी माध्यम से अन्य विषयों की शिक्षा का अवसर प्रदान करता? हिंदी प्रदेशों ने हिंदी को आगे बढ़ाने की सारी जिम्मेवारी केंद्र सरकार को सौंप दी और खुद गहरी नींद सोते रहे। हिंदी प्रदेशों से तो यह भी नहीं हो सका कि आपस में बैठकर सरकारी कामकाज में इस्तेमाल होने वाले विभिन्न पारिभाषिक शब्दों में एकरूपता लाए। आज हिंदी में साहित्य के अलावा ऐसी एक दर्जन पुस्तकों के नाम भी अनायास याद नहीं आते, जिन्हें पढ़ने की ललक के कारण कोई अहिंदीभाषी हिंदी सीखने को उद्यत हो।

किसी भाषा के विकास के लिए जरूरी नहीं कि वह सरकारी भाषा ही बने। फारसी भारत के कई प्रतापी राजदरबारों की भाषा थी, लेकिन आज वह भारत में कहां है? ज्यादा जरूरी है किसी भाषा को ज्ञान की भाषा बनाना। हमारी पीढ़ी ने बड़े चाव से हिंदी सीखी। इसके बाद शायद हम अंग्रेजी नहीं सीख पाते, यदि हिंदी बातचीत, शिक्षा का माध्यम और साहित्य की भाषा होने के साथ-साथ ज्ञान की भाषा भी होती। हिंदी को ज्ञान की भाषा बनाने का काम हुआ ही नहीं और अंततः हमारे बाद की पीढ़ी को सिर्फ साहित्य पढ़ने के लिए हिंदी सीखना फालतू का काम लगने लगा। जिस गाड़ी में हमारे जैसे लोग बैठे थे, वह गाड़ी स्टार्ट ही नहीं हुई और अब बाद वाली पीढ़ी के लोग दूसरी तेज गाड़ी में बैठ रहे हैं तो उन्हें दोष देकर सही नहीं। पहली गाड़ी वाला ड्राइवर शायद इंतजार कर रहा था कि सारे यात्री इसमें आ जाएं तब वह गाड़ी चलाएगा। इसका नतीजा यह हुआ कि जो पहले से बैठे थे वे भी उतरने लग गए।■

तिआन केपिंग

बीजिंग विश्वविद्यालय से हिन्दी में एम.ए.। चीन सरकार की फ़ेलोशिप पर हिंदी में प्रवीणता के लिए केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा में अध्ययन किया। दिल्ली में विश्व हिंदी दिवस पर हिंदी में भाषण दिया। अखिल भारतीय हिंदी वाद-विवाद प्रतियोगिता में भाषा पुरस्कार मिला। गुजरात की मुख्यमंत्री की चीन यात्रा के दौरान उनकी निजी हिंदी अनुवादक रहीं। सम्प्रति - गुआंग्डोंग विदेशी अध्ययन विश्वविद्यालय, गुआंगज़ौ, चीन के हिंदी विभाग में लेक्चरर हैं।

सम्पर्क - नंबर-२, उत्तर बाई यूं एवेन्यू, बाई यूं जनपद, गुआंगज़ौ, चीन। ईमेलः 904950606@qq.com

आलेख

रस प्रधान भारत और चीनी स्वाद

प्राचीन भारतीय संस्कृत कविता के विशेषज्ञ रस पर ज़्यादा महत्व देते हैं। उनका ख्याल है कि रस के बिना कविता नहीं होती। यहां तक कि कविता का उद्देश्य और मतलब भी रस होता है।

पश्चिमी लोगों के ख्याल में स्वाद या रस का मतलब केवल शारीरिक जरूरत मिलने के लिए है, सौंदर्यबोध से संबंध नहीं रखा जाएगा। प्लेटो ने कहा था कि अगर हम कहते हैं कि स्वाद और सुगंध न केवल प्रसन्नता है बल्कि सुन्दर भी है, तो लोग हम पर हंसी उड़ाएंगे। इस बात से चीन और भारत एक साथ असहमत हैं, क्योंकि वे दोनों देशों के इतिहास में स्वाद या रस का प्रयोग करके कविता की आलोचना करने का झुकाव मौजूद है। हालांकि भारतीय रस प्रधान काव्य-शास्त्र और चीनी स्वाद प्रधान काव्य-शास्त्र की शुरूआत खाद्य-पदार्थों का स्वाद या रस होता है, फिर भी बाद में विकसित होते हुए विभिन्नता उत्पन्न हुई। चीनी स्वाद प्रधान काव्य-शास्त्र के बारे में ज्यादा विशेष अध्ययन की किताब नहीं हैं, केवल विभिन्न किताबों के कुछ-कुछ भागों में रहता है। बल्कि स्वाद के साथ विचार करने का तरीका पुराने समय से आज तक मौजूद रहता है और स्वाद का मतलब ज्यादा परिवर्तित नहीं हुआ। भारत में स्वाद सिद्धान्त का अध्ययन करने वाली किताबें बहुत सारी हैं और तरह-तरह के संप्रदाय भी हैं। मगर अध्ययन करने के दौरान स्वाद का मतलब बदल गया, खाने का रस छोड़कर भाव के अर्थ से अधिक घनिष्ठ जुड़ा होने लगा। इन दोनों काव्य-शास्त्रों की तुलना से भारत और चीन की संस्कृति की समानता और विभिन्नता समझना लाभदायक है।

चीनी में स्वाद का मतलब खाने की उत्तेजना से जीभ से पैदा हुआ आनंद अनुभव होना है। कन्फ्यूशियस ने कहा था कि उन्हें एक बार किसी संगीत को सुनकर तीन महीने तक मांस का स्वाद मालूम नहीं हुआ। यहां मांस का स्वाद और संगीत की सुन्दरता एक साथ जुड़े हुए हैं। मेंज़ ने भी कहा था कि जिस तरह स्वादिष्ट खाना मेरी जीभ को आनन्द देता है, ठीक उसी तरह धर्म मेरे दिल को प्रसन्नता ही देता है। इससे देखा जा सकता है कि स्वाद का प्रयोग करके शारीरिक संतुष्टि और मानसिक संतुष्टि एक साथ जुड़ने लगे। यहां से चीन का स्वाद प्रधान काव्य-शास्त्र उत्पन्न हो रहा था।

सामंजस्य के साथ विभिन्नता चीन के इतिहास में आज एक महत्वपूर्ण विचारधारा है। इस विचारधारा का स्रोत भी स्वाद प्रधान काव्य-शास्त्र से संबंधित है। एक पुराना चीनी ग्रंथ ज़ंउअ ज़उअन (Zuo Zhuan) में एक ऐसी कहानी है— एक दिन राजा ने अपने मंत्री यैज़ (Yan Zi) से कहा इन सारे मंत्रियों में केवल एक मंत्री मेरे विचार से सामंजस्य रखता है। यैज़ (Yan Zi) ने कहा है कि ऐसी बात ठीक नहीं है, महाराज उस मंत्री का ख्याल केवल आप के विचार के समान है, सामंजस्य नहीं। सामंजस्य का असली मतलब भोजन बनाने के काम से बता सकता हूं। अगर भोजन का स्वाद हलका है तो अधिक मसाला डालना है। अगर भोजन का स्वाद भारी है तो कम समाला डालना है। जो बिना विचारे राजा से हमेशा के लिए सहमत होने वाला व्यवहार है, वह बिल्कुल हलका भोजन और हलका बनाने और भारी भोजन और भारी बनाने की मूर्खता के समान है। सामंजस्य का वास्तविक रूप यही है कि जब राजा किसी कार्य करने से मंज़ूर हैं, तो उस कार्य के नहीं करना चाहिये का कारण बताना है। और जब राजा किसी कार्य करने से असहमत हैं, तो वह कार्य करना चाहिये का कारण बताना है। इसी तरह से राजनीति साफ़ और रौनक बन जाती है।

यह कहानी चीन की सामंजस्य संस्कृति का स्रोत है। इसमें भोजन के स्वाद का प्रयोग करके राजनीति में सुन्दरता का वर्णन किया गया। इसके बाद बहुत पुराने चीनी विचारकों ने स्वाद प्रधान काव्य-शास्त्र का अध्ययन किया। इन अध्ययनों की मुख्य तीन विशेषताएं हैं—

प्रथम विशेषता यही है कि स्वाद कविता का एक महत्वपूर्ण गुण है और कविता की आलोचना करने का एक मानक भी है। ज़ुनरुनग (Zhong Rong) ने अपनी किताब कविता का गुण लिखा है कि सबसे उत्तम कविता ऐसी है, जिसमें असीम स्वाद होता है और जिससे पढ़ने वालों के दिल

कांपते हैं। सीखूंतू (Si Kongtu) ने अपनी किताब ली साहब से कविता की चर्चा में लिखा है कि स्वाद पहचानकर ही कविता की चर्चा शुरू हो सकती है। दूसरी विशेषता यही है कि शब्द और वाक्य सीमित होते हैं बल्कि मतलब अमीमित होने पर महत्व देते हैं। अनेक चीनी विचारकों को लगता है कि कविता के स्वाद के बाहर और कुछ स्वाद मौजूद होना चाहिये। यान वांगली (Yang Wanli) ने लिखा है कि कविता समाप्त होने पर भी स्वाद रहा आता है, यही सबसे उत्तम है।

चीनी स्वाद प्रधान काव्य-शास्त्र में सभी स्वादों में सबसे लोकप्रिय फीका स्वाद है। फीकेपन से आशय यही है कि कविता लिखते और पढ़ते समय मन शांत होना चाहिये। चाहे सुख मिले या दुख, मन स्थिर हो। न सफलता के लिए ख़ुशी है, न असफलता के लिए परेशान। ऐसी मन की स्थिति को फीका स्वाद कहते हैं और अधिकतर विचारक इसे चीन के स्वाद-सिद्धांत का सबसे उत्तम मानते हैं। यह चीनी स्वाद प्रधान काव्य-शास्त्र की तीसरी विशेषता है।

प्राचीन भारतीय संस्कृत कविता के विशेषज्ञ रस पर ज़्यादा महत्व देते हैं। उनका ख्याल है कि रस के बिना कविता नहीं होती। यहां तक कि कविता का उद्देश्य और मतलब भी रस होता है। भारतीय रस प्रधान काव्य-शास्त्र की विशेषता पर एक विश्लेषण यों है -

सबसे पहले रस और भाव का घनिष्ठ संबंध होता है। रस भाव से उत्पन्न हुआ या यह भी कह सकते हैं कि रस भाव ही है। भाव साहित्य और कला की आत्मा है। रस भाव की नकल करता है। रस शब्दों से बढ़कर एक किस्म का अनुभव होता है। यही रस प्रधान काव्य-शास्त्र की सब से प्रमुख विशेषता है।

दूसरी विशेषता यही है कि रस का और एक मलतब है कि अपने को त्यागकर किसी मुक्त स्थिति में रहने की हालत हो सकती है। यही मतलब भारतीय धर्मों से संबंधित होती है। हिंदू धर्म मानता है कि आदमी की ज़िन्दगी को चार प्रकार के काल से गुज़रना है- ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ ये तीनों कालों के कार्य संन्यास की तैयारी है यानी अपने को त्याग करने की तैयारी है ताकि परम उद्देश्य–ईश्वर से मिलना पहुंच सके। हिंदू धर्म के अनुसार जीवन के चार लक्ष्ण होते हैं– धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। मोक्ष ही अपने को त्यागकर मुक्त स्थिति है।

तीसरी विशेषता यह है कि रस की उत्पन्नता और अनुभव करना लौकिक वस्तुओं से बढ़ना पड़ेगा और किसी भी बाधा नहीं डालना है। लोगों को कविता पढ़ते समय अपनी पसंद, समय और स्थान आदि अपने से संबंधित सभी कुछ भूलना चाहिये। चाहे बाहर से या अंदर से किसी भी प्रकार की बाधा दूर करना है। ऐसी कोई भी बाधा या परेशानी न होने ही रस का अनुभव है।

भारत और चीन प्राचीन पूर्वी सांस्कृतिक देश हैं और पुराने समय से दोनों देशों के बीच अनेक सांस्कृतिक आदान-प्रदान हुए हैं। इसलिए कुछ हद तक विचार करने के तरीकों में समानताएं हैं। भारतीय रस प्रधान काव्य-शास्त्र और चीनी स्वाद प्रधान काव्य-शास्त्र इन समानताओं के उदाहरण हैं। जैसे दोनों देश मानते हैं कि रस या स्वाद बढ़िया साहित्य जांचने का एक मानक है। यहां तक कि साहित्य की आत्मा है। इसके अलावा दोनों मानते हैं कि रस या स्वाद का आनन्द लेने के दौरान लौकिक वस्तुओं से बचना है और कुछ मनोवैज्ञानिक दूरी रखना है। समानताओं के अलावा कुछ विभिन्नताएं भी हैं। चीनी स्वाद प्रधान काव्य-शास्त्र में स्वाद का मतलब शुरू से अंत तक खाद्य-पदार्थों के स्वाद से जुड़ा हुआ है, जबकि भारतीय रस प्रधान काव्य-शास्त्र में रस का मतलब खाने की चीज़ों के स्वाद से अलग होकर भाव की ओर बदल गया। इसके अलावा दो और विभिन्नताएं हैं।

प्रथम यह है कि चीनी विचारक मानते हैं कि लोगों के अपने ज्ञान और अनुभव से स्वाद उत्पन्न होता है, जबकि भारतीय विचारक मानते हैं कि अचेतन में छिपे हुए संभावित प्रभाव से रस पैदा होता है। हिंदू धर्म का विचार है कि हर आदमी अपने कर्म के अनुसार अनगिनत बार जन्म लेता है। प्रत्येक जन्म का अनुभव बिल्कुल गायब नहीं होता, बल्कि अचेतन में छिपा होकर आदमियों पर संभावित प्रभाव डालता है। जब लोग कविता पढ़ते हैं तो पिछले जन्म की याद आती है और इस जन्म की परेशानियां विस्मृत होती हैं। इसके साथ ही एक सुन्दर एवं सुखमय अनुभव पैदा होने लगता है, जिसे रस कहा जाता है।

दूसरी असमानता यह है कि चीनी विचारक स्वाद के बाहर स्वाद होने पर ज्यादा महत्व देते हैं और भारतीय विचारक रस में भाव होने पर अधिक मूल्यवान मानते हैं। चीनी में कहते हैं कि शब्द सीमित है बल्कि उनका मतलब और स्वाद असीमित होता है। जिस कविता में अनगिनत स्वाद होता है, वह उत्तम कविता कहते हैं। स्वाद के बाहर स्वाद होता है यह चीनी स्वाद प्रधान काव्य-शास्त्र की प्रमुख विशेषता है। भारत में रस और भाव का संबंध ज्यादा घनिष्ठ है। भाव भारतीय रस प्रधान काव्य-शास्त्र का केंद्र है।

आधुनिक युग में बहुत से भारतीय विद्वान दुनिया भर में अपने काव्य-शास्त्र के सिद्धांतों का प्रसारण करते रहते हैं। यह काम चीनियों को भी करना चाहिये। आधुनिक दुनिया में एकीकरण पर जोर है और पश्चिमी संस्कृति का महत्व बढ़ रहा है, जबकि पूर्वी संस्कृति के मूल्य पूरी तरह से उजागर नहीं हुए है। चाहे चीनी स्वाद हो या भारतीय रस ये दोनों पूर्वी संस्कृति की मूल्यवान विशेषता है, जिनका और कुछ गहरे अध्ययन करने का काम हमारा इन्तज़ार कर रहा है।■

रमेश जोशी

१८ अगस्त १९४२ को चिड़ावा, राजस्थान में जन्म। राजस्थान विश्वविद्यालय से एम.ए. और रीजनल कालेज ऑफ एज्यूकेशन भोपाल से बी.एड., पोरबंदर से पोर्ट ब्लेयर तक घुमक्कड़ी, प्राथमिक शिक्षण से प्राध्यापकी करते हुए केन्द्रीय विद्यालय जयपुर से सेवानिवृत्त। संप्रति : अमरीका में अंतर्राष्ट्रीय हिंदी समिति की त्रैमासिक पत्रिका 'विश्वा' के प्रधान संपादक। मूलतः व्यंग्यकार, गद्य-पद्य की ६ पुस्तकें प्रकाशित। ब्लॉग - jhoothasach.blogspot.com

संपर्क : 10046, Parkland Drive Twinsgburg, OH-44087 USA Email : joshikavirai@gmail.com

जन्नत की हकीकत

आदमी का विकल्प नहीं हो सकता

अमरीका में जब आप किसी भी दुकान में घुसेंगे और निकल कर वापिस जाएँगे तब तक आपकी हर गतिविधि की फोटो खिंचती रहेंगी। कई बार तो काउंटर पर कोई नहीं होता तो भी आप चीजें उठाएँ, स्केन करें, कार्ड से बिल चुकाएँ और सामान ले आएँ।

जीवित होने का प्रमाण-पत्र जमा करवाने लगभग नौ महीने बाद बैंक गया। कारण एक तो पास बुक भरने वाली थी दूसरे कई महीने की प्रविष्टियाँ बाकी थीं। देखा, बैंक में कई परिवर्तन हो गए हैं। नौ महीने कम नहीं होते। इतने अंतराल में एक नए सिस्टम ने जन्म ले लिया था। संबंधित बाबू को पासबुक दी तो हमारी पासबुक को पलटकर देखने के बाद उसके पीछे एक स्टीकर चिपका दिया और बोला- बाहर मशीन लगी है उससे प्रविष्टियाँ करवा लें। मशीन इस स्टीकर को पहचान कर सक्रिय हो जाएगी और आपकी पासबुक में प्रविष्टियाँ हो जाएँगी।

आश्चर्य, ख़ुशी और दुःख- कई तरह के भाव मन में एक साथ ही आए। और पुराना समय भी याद आया जब पासबुक कम्प्लीट करवाने के लिए घंटों प्रतीक्षा करनी पड़ती थी और तब दया करके कोई बाबू कह देता था- आप जाइए, मैं आपकी पासबुक पूरी करके सँभाल कर रख लूँगा, जब समय मिले ले जाइएगा। अस्सी के दशक की बात है। बैंक से कुछ रुपए निकलवाने के लिए गए। लाइन बहुत लम्बी थी तो सोचा जब तक नंबर आए अपने के मित्र से ही मिल आएँ। मित्र के पास जाकर सब भूल गए। शाम को घर लौटे। कुछ देर बाद एक बाबू जो हमें जानता था रुपए और पासबुक लेकर आया और हमसे टोकन ले गया। बोला- क्या करें बैंक छोड़ने से पहले हिसाब मिलाना ज़रूरी होता, नहीं तो कल भी देख लेते। मन खुश हो गया। यह था ग्राहक और बैंक का रिश्ता।

उन दिनों हम घर पर पिताजी को भी रुपए बिना किसी शुल्क के भेज देते थे। गाँव में भी उसी बैंक का खाता खुलवा रखा था। बैंक उसमें मुफ्त में 'मेल ट्रांसफर' कर देता था और

पिताजी हमारे पहले से हस्ताक्षर किए हुए चेक से रुपए निकाल लेते थे और आज हालत यह है कि बैंक जिस-तिस काम के नाम से चार्ज तो लेते ही हैं ऊपर से यह भी चाहते हैं कि ग्राहक बैंक में अपनी शक्ल ही न दिखाए। इसीलिए छह-सात वर्ष पहले हमारे बहुत पीछे पड़े कि एटीएम कार्ड ले लो लेकिन हमने मना कर दिया। किस-किस के नंबर याद रखें? कहीं कार्ड खो गया तो मुश्किल, नंबर भूल गए तो नई आफत। महीने में एक बार ही तो पेंशन निकलवानी होती है सो चले जाया करेंगे बैंक। लेकिन बैंक वाले हमें एक अजूबे की तरह देखते और हमें देखते ही उनका माथा ठनकता है।

अमरीका में जब आप किसी भी दुकान में घुसेंगे और निकल कर वापिस जाएँगे तब तक आपकी हर गतिविधि की फोटो खिंचती रहेंगी। कई बार तो काउंटर पर कोई नहीं

काम न होने पर भी मनुष्य को भोजन चाहिए, बीमार होने पर दवा चाहिए, बुढ़ापे में पेंशन चाहिए और कुछ नहीं तो बोर होने पर कोई बतियाने के लिए चाहिए, लेकिन रोबोट को जब ज़रूरत हो तेल-पानी देकर तैयार करो और जब ज़रूरत न हो तो गोदाम में बंद कर दो।

होता तो भी आप चीजें उठाएँ, स्केन करें, कार्ड से बिल चुकाएँ और सामान ले आएँ। पहले सुनते थे कि विदेशों में अखबार रखे रहते हैं और पास में कोई दुकानदार नहीं, बस एक गुल्लक रहता है। अखबार लो, गुल्लक में पैसे डालो। कितनी ईमानदारी।

अब तो हालत यह है दुकान में किसी के रहने की ज़रूरत ही नहीं है। हर सामान पर एक स्टीकर लगा रहता है। यदि आप बिना स्केन किए और भुगतान किए बाहर निकलते हैं तो खतरे का साइरन बज जाएगा कि कोई बिना प्रक्रिया पूरी किए स्टोर से सामान ले जा रहा है।

फिर भी छोटे-बड़े स्टोरों में लोग रखे जाते हैं विशेष रूप से बुज़ुर्ग ग्राहकों के लिए। वे स्टोर में केवल समान खरीदने ही नहीं आते। वे अपने अकेले जीवन से ऊब कर बाहर इसलिए निकलते हैं कि किसी से कुछ भी बात करने का मौका मिले। उन्हें दुकान में बुलाने के लिए काउंटर पर कर्मचारी का होना एक अतिरिक्त आकर्षण होता है। कर्मचारी भी इसे जानते हैं और वे उनसे कुछ अतिरिक्त बातें भी करते हैं।

आज रोबोटिक्स एक सबसे नया और अधिक वेतन का काम है। हर काम के लिए रोबोट बनाए जा रहे हैं। बाज़ार तो यहाँ तक कल्पना करने और योजनाएँ बनाने लग गया है कि शायद विवाह जैसी संस्था का विकल्प भी रोबोट उपलब्ध करवा सकें। सोचिए, बिना संवेदनाओं का मानव जीवन कैसा होगा?

बाज़ार और बाज़ार के मालिक तो यही चाहते हैं कि मनुष्य के बिना ही काम चला लिया जाए क्योंकि काम न होने पर भी मनुष्य को भोजन चाहिए, बीमार होने पर दवा चाहिए, बुढ़ापे में पेंशन चाहिए और कुछ नहीं तो बोर होने पर कोई बतियाने के लिए चाहिए, लेकिन रोबोट को जब ज़रूरत हो तेल-पानी देकर तैयार करो और जब ज़रूरत न हो तो गोदाम में बंद कर दो।

बाज़ार क्यों भूल जाता है कि रोबोट सस्ते कामगार तो हैं लेकिन वे ग्राहक नहीं होते। ग्राहक के बिना बाज़ार जिएगा कैसे? इसलिए कितना ही बेईमान हो लेकिन आदमी का विकल्प तो आदमी ही रहेगा। अभी हमें जन्नत का यह तमाशा बहुत भा रहा है। काश, हम जन्नत की हकीकत की कुछ पूर्व-कल्पना कर पाते।■

अपर्णा राय

मध्य प्रदेश में जन्म। बरकतुल्लाह विश्वविद्यालय, भोपाल से स्नातक। देवी अहिल्या विश्वविद्यालय, इंदौर से बिजनेस इकोनॉमिक्स में स्नातकोत्तर। हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय सागर से मास कम्युनिकेशन में उपाधि। हिंदुस्तान टाइम्स, इनाडु टेलीविजन तथा आई क्वेस्ट में कार्यरत रहीं। समाजसेवी संस्था SAITEW की सदस्य। सर्जनात्मक लेखन में रुचि। सम्प्रति -शिकागो में निवास।

सम्पर्क - aparna5.rai@gmail.com

शिकागो की डायरी

किताबें पढ़ने का अनुशासन

अमेरिका में दीवानगी की हद तक किताबें पढ़ने का चलन है। माँ-बाप द्वारा बहुत ही छोटी उम्र से बच्चों को पढ़ने के लिए प्रेरित किया जाता है। सबसे पहले पढ़ने और बाद में लिखने की विधि का ज्ञान दिया जाता है।

भारत भाषा और संस्कृति की विविधता का देश है। भारत में ऐसे अनेकों महान लेखक, साहित्यकार, कवि, विचारक और दार्शनिक रहे हैं जिन्होंने एक पूरी पीढ़ी को अपनी कृतियों से प्रभावित किया है और नयी पीढ़ी के लिए भी ये प्रेरणादायक रहे है। इनकी कृतियों को पूरी दुनिया में न केवल प्रसिद्धि मिली, बल्कि लाखों पाठकों की सराहना भी प्राप्त हुई है।

भारतीय भाषाओं के विभिन्न साहित्यकारों में प्रमुख मुंशी प्रेमचंद, रविंद्रनाथ टैगोर, जयशंकर प्रसाद, सुमित्रा नंदन पंत, मैथिलीशरण गुप्त, सूर्यकांत त्रिपाठी निराला, महादेवी वर्मा, हरिवंश राय बच्चन, सुभद्रा कुमारी जैसे महान लेखकों का नाम सभी को स्मरण है। इनकी कृतियों को आज भी बड़े चाव से पढ़ा जाता है। बुजुर्ग हों या बच्चे सभी इनकी कृतियों को रुचि लेकर पढ़ते हैं।

अपनी बात करूं तो मेरी सबसे पसंदीदा रचनाकार हैं सुभद्राकुमारी चौहान, जिनकी कवितायें मैं बार-बार पढ़ती हूँ। 'खूब लड़ी मरदानी वो तो झांसी वाली रानी थी' और 'यह कदंब का पेड़ अगर माँ होता यमुना तीरे' जैसी कविताओं ने सुभद्रा जी को अमर कर दिया। गद्य में मुझे विष्णु प्रभाकर का अर्द्धनारीश्वर उपन्यास बेहद पसन्द है। इसे पढ़ते हुए आँखों के सामने दृश्य मानो चलचित्र जैसे गुजरने लगते हैं।

हिंदी साहित्य अपनी दर्जनों विधाओं की बदौलत ही भाषायी समृद्धि की ऊंचाईयों को हासिल कर सका है। हिंदी की विभिन्न बोलियाँ भी इस भाषा को भरा-पूरा बनाती हैं। जिनमें तरह-तरह की देशी परम्पराएँ और स्थानीय शैलियाँ प्रतिबिम्बित होती हैं। हिंदी ने अपने आधुनिक स्वरूप में विभिन्न भाषाओं की शब्द-सम्पदा कुछ इस स्वाभाविक प्रवाह के साथ अंगीकार की है कि अब ये शब्द हिंदी के ही हो गये हैं।

पढ़ना हमेशा ही कुछ न कुछ ज्ञान देकर जाता है और दिमाग के कई द्वार खोलता है, बचपन से मैंने यही सुना था। जब अमेरिका पहुँची तो यही देखने को मिला कि यहाँ पढ़ने का दीवानगी की हद तक चलन है। माँ-बाप द्वारा बहुत ही छोटी उम्र से बच्चों को पढ़ने के लिए प्रेरित किया जाता है। यहां की जीवनशैली में वैज्ञानिक सोच को सहजता से तरजीह दी जाती है और बच्चों को सबसे पहले पढ़ने और बाद में लिखने की विधि का ज्ञान दिया जाता है।

नेशनल सेंटर फॉर एजुकेशन के अनुसार जो बच्चे घर पर तरह-तरह की किताबें पढ़ते हैं, स्कूल में उनके अधिक सफल होने के परिणाम देखे गए हैं। वे गणित जैसे विषय में भी हाई स्कोरिंग करते हैं। अमेरिका में बचपन से ही किताबें पढ़ानी

शुरू कर दी जाती हैं। माता-पिता अपने बच्चों को बहुत ही काम उम्र से कहानियों की छोटी-छोटी किताबें पढ़ कर सुनाते हैं। पिक्चर बुक्स की शुरुआत तो एक साल की उम्र से ही कर देते हैं। दस साल की उमर तक पहुँचते-पहुँचते बच्चे सीरीज बुक्स पढ़ना करना शुरू कर देते हैं। चौथी कक्षा तक आते आते हैरी पॉटर, मैजिक ट्री हाउस जैसे पब्लिकेशन की सीरीज बुक्स पढ़ चुके होते हैं।

इस देश के किसी भी शहर में चले जाईये, सार्वजनिक स्थान हो, बस हो, मेट्रो ट्रेन हो या कोई पार्क की शांत जगह, आसानी से लोगों के हाथों में किताबें देखी जा सकती हैं। डॉक्टर के यहां अपनी बारी का इंतज़ार करते अधिकांशतः

प्रवासी भारतीय अपने बच्चों को हिंदी और अपनी मातृभाषा में लिखी हुई किताबें ज़रूर पढ़वाते हैं। इंडियन माइथोलॉजी की किताबें अपने घरों में रखने और उन्हें पढ़ने का चलन यहाँ सभी भारतीय परिवारों में देखने को मिलता है।

मरीज अथवा उनके साथ गये लोग उपन्यास पढ़ते नजर आते हैं। बच्चों में पढ़ने की आदत डलवाने के लिये माता-पिता कड़ी मेहनत करते हैं। उन्हें हफ्ते में दो से तीन बार नयी किताबों से परिचय करवाने और खरीदने के लिये पब्लिक लाइब्रेरी ले जाते हैं।

अक्सर सुनने में आता है कि अमेरिका में रहने वाले भारतीय अभिभावक और उनके बच्चे हिंदी या अपनी प्रांतीय भाषा की किताबें नहीं पढ़ते और सिर्फ अंग्रेजी में लिखी किताबों में ही उनकी रुचि रहती है। यह मिथ्या धारणा है। मेरा अनुभव है कि प्रवासी भारतीय अपने बच्चों को हिंदी और अपनी मातृभाषा में लिखी हुई किताबें ज़रूर पढ़वाते हैं और आगे पढ़ते रहने के लिए प्रेरित करते हैं। इंडियन माइथोलॉजी की किताबें अपने घरों में रखने और उन्हें पढ़ने का चलन यहाँ सभी भारतीय परिवारों में देखने को मिलता है। मेरी एक मित्र जो ओडिशा से यहां आयी हैं, अपने बच्चों को अपनी भाषा की किताबें हर साल भारत से लेकर आती हैं। शुरूआत में वे खुद बच्चों के साथ बैठकर किताबें सुनाती थीं, पर अब उनके बच्चे स्वयं ही अपनी किताबें चयन करते हैं और शौक से पढ़ते हैं।

इसी तरह हिंदी की छोटी-छोटी कहानियों की किताबों से लेकर प्रसिद्ध महान लेखकों की कृतियां यहां के बच्चे पढ़ते हैं। मिडिल स्कूल में बच्चे जीवन कथा और प्रेरक-व्यक्तित्व की किताबें अधिकतर पढ़ते देखे गए हैं। अब्राहम लिंकन, जॉर्ज वाशिंगटन से लेकर महात्मा गांधी, लालबहादुर शास्त्री, स्वामी विवेकानंद की जीवनी बच्चों में व्यापक तौर पर प्रसिद्ध है। कुछ हाईस्कूल बच्चे इंडियन-अमेरिकन ऑथर की किताबें भी पढ़ते हैं, जिसमें चित्रा बेनर्जी, देवका रानी और झुम्पा लाहिरी की किताबें शामिल हैं। यह तथ्य यहाँ आसानी से देखने को मिलता है कि अपनी संस्कृति और भाषा से हमेशा ही बना रहता है।■

सुधा दीक्षित

मथुरा में जन्म। अंग्रेजी साहित्य में एम.ए.। लखनऊ विश्वविद्यालय से स्नातकोत्तर एवं बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय से एल.एल.बी. की उपाधि प्राप्त की। कविता एवं सृजनात्मक लेखन में विशेष रुचि। सम्प्रति - बंगलुरू में रहती हैं।

सम्पर्क : sudha_dixit@yahoo.co.in

रम्य-रचना

हमारा पुस्तक प्रेम

मानस हो तो वही रसखान बसो बृज गोकुल गाँव के ग्वारन
जो खग हो तो बसेरो करो मिली कालिंदी कूल कदम्ब की डारन

पुनर्जन्म को मद्देनज़र रखते हुये रसखान बाबा की यह रचना हमें बड़ी पसन्द है। अब हम गांव में के ग्वालों के बीच में तो नहीं रह सकते, मिज़ाज से थोड़ा शहरी जो हैं; परन्तु *'पंछी बनूँ, उड़ती फिरूँ मस्त गगन में'* वाला आइडिया हमें भा गया। पंछी बन के यमुना किनारे कदम्ब के वृक्ष पर बसेरा – वाह क्या बात है! सारी की सारी फिरदौस (जन्नत) और उसकी बहत्तर हूरें निसार इस पर।

सवाल यह है कि अगले जनम के लिये कौन से खग यानि पक्षी का चुनाव किया जाये? देखो भाई मुर्गा तो हम बनने से रहे। सुबह-सुवह उठ कर बाँग देना अपने बस की बात नहीं। इस मामले में हम दास मलूका के अनुयायी हैं – 'आराम बड़ी चीज़ है (प्रातःकाल में) मुँह ढंक के सोइये' और हमें कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता अगर मुर्ग-श्रेणी के लोग हमें निशाचर कहें। यूँ भी कुछ तो लोग कहेंगे। वैसे भी हम तो स्वयं अपने आपको उलूक श्रेणी में गिनते हैं। हँसिये मत! उल्लू बहुत ज्ञानी पक्षी होता है। तभी तो देवी लक्ष्मी उसकी सवारी करती हैं। यह और बात है कि हमारा सामना अभी तक लक्ष्मी देवी से नहीं हुआ। कोई बात नहीं! जब तक देवी सरस्वती का वरदहस्त हमारे सर पर है, हमें कोई गिला नहीं।

दोस्तों हम तो वीणावादिनी के परम भक्त हैं ही, हम चाहते हैं कि हमारे बच्चे भी 'या देवी सर्वभूतेषु बुद्धि रूपेण संस्थिताम्' के सिद्धांत को लेकर जीवन पथ पर अग्रसर हों।

प्रिन्टिंग प्रैस के आविष्कार के पहले साहित्य को सुरक्षित रखने के लिए उसे पद्यबद्ध करने की प्रथा थी। प्राचीनकाल में सुवचनों और सूक्तियों को भोज पत्रों पर भी लिखा जाता था, जो कि एक कठिन कार्य था। आम आदमी के लिये कुछ भी याद रखने के लिये तुकबन्दी सबसे अच्छा साधन है। आज भी हम लंबी चौड़ी गद्य की तक़रीर को याद नहीं रख पाते, परन्तु कविता आराम से स्मृति कोष में सुरक्षित रहती है। अब हर वक़्त कविता पाठ तो किया नहीं जा सकता; इसलिए छपाई मशीन की अहमियत को नज़रअंदाज़ नहीं किया जा सकता। बड़े-बड़े ग्रन्थ इसी की वजह से बरक़रार हैं। मगर इस सारी भाषण बाज़ी का लुब्बे लुबाव यह है कि हम कुछ भी सुरक्षित कर लें - जब तक उसे इस्तेमाल नहीं करेंगे उसका फ़ायदा क्या? लिखने और छपने का सारा आइडिया ही यह है कि हम उसे पढ़ें। पढ़ें से मतलब स्कूल-कॉलेज वाली पढ़ाई से नहीं है - वह तो पढ़ने के जज़्बे का ही क़त्ल कर देती है। कोई भी काम ज़ोर ज़बरदस्ती से नहीं किया जा सकता। एक पते की बात बतायें - आप बिल्ली के नन्हे बच्चे (म्याऊं) को भी अगर जरबन शिकार करना सिखायेंगे तो वह चूहे से डरने लगेगा। वही हश्र थोपी हुई पढ़ाई का भी होता है। इसलिए हमें न केवल रोचक पुस्तकों का इंतज़ाम करना होगा बल्कि बालकों और युवाओं में रुचि भी पैदा करनी होगी। तो चलिये ढूंढते हैं किताबों में छुपे ख़ज़ाने को। यह खज़ाना केवल ज्ञान का ही नहीं बल्कि आनंद का भी है। जब तक हम (अगले जनम में) पंछी बन कर आकाश में उड़ने नहीं लगते, तब तक किताब के पन्नों में आसमान की सीमा को पार कर सकते हैं। हिंदी की एक सूक्ति 'जहाँ ना जाये रवि, वहाँ जाये कवि', केवल कवि पर ही नहीं, कविता पढ़ने वालों पर भी लागू होती है। आप हरिवंश रॉय बच्चन की मधुशाला उठा लीजिये – मयखाने ना पहुँच जाएँ तो हमारा नाम — जाने दीजिये नाम में क्या रखा है! बच्चन (अमिताभ नहीं भैये, उनके बाप) हों या ग़ालिब, मीर, जिगर अथवा मोमिन – नशा कहीं भी कमतर नहीं है। कालिदास का 'मेघदूत' पढ़िये या महादेवी वर्मा का आन्ध्य गीत की 'यामा' और उनके लिखे 'सांध्य गीत' — आसमान भी छोटा पड़ जाता है। गद्य में लिखी पुस्तकों ने भी कम गुल नहीं खिलाये। परियों के देश में पहुँच जाते हैं लोग, किताब के

वैसे भी हम तो स्वयं अपने आपको उलूक श्रेणी में गिनते हैं। हँसिये मत! उल्लू बहुत ज्ञानी पक्षी होता है। तभी तो देवी लक्ष्मी उसकी सवारी करती हैं। यह और बात है कि हमारा सामना अभी तक लक्ष्मी देवी से नहीं हुआ।

धर्मवीर भारती के 'गुनाहों का देवता' ने कितनी लड़कियों के तकियों के नीचे रातें गुज़ारी हैं यह बात आप पचास और साठ के दशक की स्त्रियों से पूछिये। बढ़ती उम्र के साथ ही किताबें भी वयस्क हो जाती हैं। यह सब कुछ इसी क्रम में हो ये ज़रूरी नहीं। हम खुद बचपन में सूरसागर, महाभारत और रामायण वगैहरा पढ़ा करते थे और आज हैरी पॉटर पढ़कर तिलिस्मी दुनिया में पहुँच जाते हैं।

पन्नों पर सवार होकर। हम भाषणबाज़ी करके बोर करने में यक़ीन नहीं करते, इसलिए भारी-भरकम शोध पुस्तकों की बात नहीं करेंगे; सिर्फ कहानियों और उपन्यासों की बात करेंगे।

हमारा तो पहला प्यार ही पुस्तक था और अभी तक क़ायम है। बचपन में चन्दामामा पढ़ते हुए हम एक तिलिस्मी दुनिया में पहुँच जाते थे। उसका एक धारावाहिक 'विचित्र जुड़वे' हमें एक रहस्यमय माहौल में ले जाता था। अलीबाबा और चालीस चोर, नरसिंग महतो, जानी चोट्टा तथा महकदे रानी जैसे किस्से-कहानियों की किताबें हमें अजीब-ओ-गरीब संसार में स्थानांतरित कर देते थे। उस संसार में रोमांच था, रोमांस था, परियां थीं, भूत-प्रेत और इंसानों जैसी हरकत करने वाले जानवर भी थे। आजकल के बच्चे मोबाइल और विडियो गेम्स में व्यस्त रहते हैं। वो तो क्रिकेट भी हाथ में रिमोट लेकर टीवी पर खेलते हैं। साहबान बच्चों और युवाओं के लिए खेल और किताबें दोनों ज़रूरी हैं। कोशिश कीजिये आज भी कोई बच्चा 'एक था राजा', 'एक समय की बात है' सुनकर अपनी उत्सुकता को रोक नहीं सकता (हम भी नहीं), वो अवश्य पूछेगा 'फिर क्या हुआ?' बस यही फार्मूला है बालकों का किताबों से परिचय कराने का।

युवावस्था में किताबों का किरदार थोड़ा बदल जाता है। मिल्स और बून्स (Mills & Boons) क़िस्म की कहानियां पसन्द आने लगती हैं। धर्मवीर भारती के 'गुनाहों का देवता' ने कितनी लड़कियों के तकियों के नीचे रातें गुज़ारी हैं यह बात आप पचास और साठ के दशक की स्त्रियों से पूछिये। बढ़ती उम्र के साथ ही किताबें भी वयस्क हो जाती हैं। यह सब कुछ इसी क्रम में हो ये ज़रूरी नहीं। हम खुद बचपन में सूरसागर, महाभारत और रामायण वगैहरा पढ़ा करते थे और आज हैरी पॉटर पढ़कर तिलिस्मी दुनिया में पहुँच जाते हैं। साहबान किताबें जादू होती हैं और उन्हें लिखने वाले जादूगर। तो फिर किस तरह हम अपने आपको और अपने बच्चों को इस जादू से महरूम रख सकते हैं?

साहित्य समंदर है। हम तो किनारे पर बैठ कर कुछ पानी चुल्लू में भरकर खुद को तरबतर कर सकते हैं। पूरा समंदर हथेलियों में समेटना किस के बस की बात है। मगर ये चुल्लू भर पानी हो यह भी ज़रूरी है। बच्चों में पुस्तकों के प्रति रुचि जगाना अविभावकों का काम होता है। शिक्षक तो बाद में परदे पर आते हैं। चलिए आप से अपनी बात कहते हैं। हमारे पिताश्री रात को सोने से पहले हम सब बच्चों को (बहुत सारे थे) बिस्तर पर बैठा कर कहानी सुनाते थे। तदुपरांत हम सब भगवान की प्रार्थना करते थे और अंत में शुभ रात्रि। अब्बाजान की कहानियां हिंदुस्तान की अनेक भाषाओं तथा सामाजिक पहलुओं को छूती थीं। वे धार्मिक, सामाजिक, ऐतिहासिक यहाँ तक कि जासूसी कहानियां भी वे मनोरंजक तरीके से सुनाते थे। कभी-कभी वे अंग्रेजी भाषा की पुस्तक या पत्रिका से पढ़ कर और हिंदी में अनुवाद करके भी कहानी सुनाते थे। यह उस वक़्त की बात है जब हम बच्चे सिर्फ हिंदी भाषा ही जानते थे। आंग्ल भाषा की एक कहानी 'डॉ. जैकल और मिस्टर हाईड' इतनी रोचक थी कि हमें वो दो पन्ने सुन कर मन करता था न कि पूरी किताब आज ही सुन लें। लेकिन पिताजी उसे धारावाहिक की तरह अगले दिन के लिए टाल देते थे। बस हमने खुद ही उस किताब को दिन के वक़्त धीरे-धीरे पढ़ना शुरू कर दिया। अरे साहब जादू हो गया। कहानी तो हमने पढ़ ही ली, साथ ही अंग्रेजी का हौवा भी दिल-ओ-दिमाग़ से उतर गया। बस क्या था, हमारी पुस्तक-पत्रिकाओं का क़ोटा और बढ़ गया। वैसे भी हमारे अब्बाजान हमारी सभी ज़रूरतें बड़ी कंजूसी से पूरी करते थे लेकिन किताबों के मामले में भरपूर दरियादिली से काम लेते थे। तब से लेकर आजतक हमारा किताबों से इश्क़ मुसलसल क़ायम है। यही परंपरा हमने अगली पीढ़ी तक बरक़रार रखी है।

आप लाख आधुनिक उपकरण मसलन - आई पॉड, लैपटॉप आदि पढ़ने के लिए चुन लें, मगर बिस्तर में घुस कर, ऊँचे तकिये लगा कर और कैटरपिलर की तरह कर्ल अप होकर, एक रोचक पुस्तक पढ़ने में जो स्वर्गीय आनंद आता है उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। लीजिये खुद की एक ग़ज़ल का शेर प्रस्तुत है -

पढ़ने का शौक़ है, वो रिसाला हो या ग़ज़ल
हमदम कोई भी हो मेरा, होगा किताब सा। ■

ललिता प्रदीप

गोंडा, उत्तरप्रदेश में जन्म। लखनऊ विश्वविद्यालय से अंग्रेजी साहित्य में एम.ए.। उत्तरप्रदेश की प्रशासनिक सेवा की अधिकारी। कविता लिखने के अलावा यात्रा एवं फोटोग्राफी में विशेष रुचि। सम्प्रति - जिला शिक्षा एवं प्रशिक्षण संस्थान, लखनऊ में प्राचार्य।

सम्पर्क : lalitapradeep@yahoo.com

कविता

मेरी हिंदी, मेरी भाषा, मेरी माँ

जब मैं कोई अक्षर नहीं जानती थी
तो मैंने सबसे पहले क्या बोला होगा?
अपनी माँ को अपनी भाषा में
शायद 'माँ' कहा होगा
जब मुझे कभी डर लगा होगा, तो भी
मैं घबराकर चिल्लाई होऊंगी अपनी भाषा में
मैं पहली बार जब ख़ुशी से पागल हो गयी होऊंगी
तो भी मैंने इसे व्यक्त किया होगा
अपनी भाषा में
मेरे हंसने, गाने, दुखी होने, दर्द से कराहने की
हर अभिव्यक्ति में
मेरे साथ होती थी मेरी अपनी भाषा
जिसे मैं अपनी भावनाओं के करीब पाती थी
तब तक कि जब
मुझे पहली बार कक्षा छः में
एक बिदेशी भाषा का ककहरा पढाया गया;
और तब से जो शुरू हुआ
निरंतर अभिव्यक्ति में
आत्मविश्वास के क्षरण का अंतहीन सिलसिला...
आज तक मेरी पहचान को
अन्दर ही अन्दर खाए जा रहा है
अभी कुछ दिन पहले
वो लड़की मेरे एक शब्द को भी न समझ पाई थी
क्यूंकि मैंने उसे हिंदी में बोला था
वो थी तो हिंदुस्तान के किसी और प्रान्त की
फिर अगले दो चार दिन हम साथ थे
मैं हिंदी बोलती थी वो अंग्रेजी में

मुझे समझती थी
उसने मुझसे कहा था कि यह हद दर्जे की शर्मिंदगी है
लेकिन हम सब करें तो क्या...
हम वो अनाथ हैं
जिनकी अपनी माँ तो है
परन्तु हमें पसंद नहीं है
क्यूंकि उसकी त्वचा गोरी नहीं है
हम वो अनाथ कौम हैं
जहाँ अपनी भाषा मातृभाषा नहीं
राजभाषा कही जाती है
पचासी वर्ष की उम्र में देश के एक द्वीप में
बोआ* के मरने से
एक पूरी भाषा मर जाती है
हे ईश्वर! मेरे देश में
मेरी किसी भी पीढ़ी में
मेरे बच्चों को वो दिन मत दिखाना
कि किसी उम्रदार हिन्दुस्तानी की मौत के साथ
मर गयी मेरी मातृभाषा...
■

* बो भाषा भारत अंडमान द्वीप की दस प्रमुख भाषाओं में एक थी। बोआ सीनियर अंडमान द्वीप पर बो-भाषा बोलने वाली अंतिम महिला थी। उनकी मृत्यु २०१० में हुई। http://www.theguardian.com/world/2010/feb/04/ancient-language-extinct-speaker-dies)

नीरज गोस्वामी

अगस्त १९५० को जम्मू में जन्म। अंतरजाल की लगभग सभी प्रतिष्ठित पत्रिकाओं में ग़ज़लें प्रकाशित। पेशे से इंजीनियर। अनेक विदेश यात्राएं कर चुके हैं। सम्प्रति - भूषण स्टील मुंबई में वाइस प्रेसिडेंट के पद पर कार्यरत।

सम्पर्क : neeraj1950@gmail.com

इतना हुए क़रीब कि हम दूर हो गए

अश्क बहने दे यूँ ही
लज़्ज़ते ग़म कम न कर

बहते हुए अश्कों से ग़म की लज्जत उठाने वाले इस अज़ीम शायर का नाम है गणेश बिहारी 'तर्ज़', जिनकी किताब 'हिना बन गयी ग़ज़ल' के हिंदी संस्करण का अनावरण हो उससे पहले ही १७ जुलाई २००९ को वे इस दुनिया-ऐ-फ़ानी से कूच कर गए।

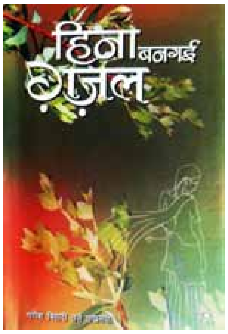

ज़िन्दगी का ये सफ़र भी यूँ ही पूरा हो गया
इक ज़रा नज़रें उठायीं थीं कि पर्दा हो गया
दर्द जब उमड़ा तो इक आंसू का कतरा हो गया
और जब ठहरा तो बढ़ कर एक दरिया हो गया
अपनों को अपना ही समझा ग़ैर समझा ग़ैर को
गौर से देखा तो देखा मुझको धोका हो गया
अव्वल अव्वल तो समाधी में अँधेरा ही रहा
आखिर आखिर हर तरफ जैसे उजाला हो गया

ऐसे और इस तरह के अनेकों शेर पढ़ कर मालूम हुआ कि तर्ज़ साहब कितने कद्दावर शायर थे। दर्द जब उमड़ा... जैसा शेर एक बार पढ़ने के बाद ज़ेहन से उतरने का नाम ही नहीं लेते। ज़िन्दगी को बहुत करीब से देखने और समझने वाला शख्स ही ऐसे शेर कह सकता है। १८ मई १९२८ को लखनऊ में पैदा हुए तर्ज़ साहब की शायरी में हमें वहां की नफासत और नजाकत दोनों दिखाई पड़ती है।

इक ज़माना था कि जब था कच्चे धागों का भरम
कौन अब समझेगा कदरें रेशमी ज़ंजीर की
त्याग, चाहत, प्यार, नफरत, कह रहे हैं आज भी
हम सभी हैं सूरतें बदली हुई ज़ंजीर की
किस को अपना दुःख सुनाएँ किस से अब मांगें मदद
बात करता है तो वो भी इक नयी ज़ंजीर की

शोर शराबे और आत्मप्रशंसा से कोसों दूर रहने वाले इस ग़ैर मामूली शायर को मकबूलियत की वो बलंदी नहीं मिली जिसके वो हकदार थे। उनके बारे में मशहूर शायर जनाब अली सरदार जाफरी साहब ने कहा है कि 'सारे हिन्दुस्तान में बिखरे हुए कुछ ऐसे शायर भी मिलेंगे जिनके नाम या तो अपने इलाकों से बाहर नहीं गए हैं या बिलकुल गुमनामी के आलम में हैं। मेरे अज़ीज़ दोस्त तर्ज़ ऐसे शायर हैं जो ज्यादातर अपने हल्कए अहबाब में रहना पसंद करते हैं। इनके इस मिजाज़ ने उर्दू के आम पढ़ने वालों को उनकी ग़ज़लों के हुस्न से महरूम रखा है।'

है बात वक्त वक्त की चलने की शर्त है
साया कभी तो कद के बराबर भी आएगा
ऐसी तो कोई बात तसव्वुर में भी न थी
कोई ख्याल आपसे हट कर भी आएगा

> तर्ज़ साहब बेहद खूबसूरत आवाज़ के मालिक थे और जब वो तरन्नुम से अपना कलाम पढ़ते थे तो सुनने वाला बेहतरीन शायरी के साथ-साथ उनकी आवाज़ के हुस्न का भी दीवाना हो जाता था। उनकी ग़ज़लों में हुस्न और इश्क की कशमकश, इश्क की बेबसी, हुस्न का अंदाज़े बयाँ, इंतज़ार का दर्द, हिज्र की कसक ही नहीं है ज़िन्दगी की तल्खियाँ और सच्चाइयाँ भी हैं, गिरते मूल्यों का दर्द भी हैं।

मैं अपनी धुन में आग लगाता चला गया
सोचा न था कि ज़द में मेरा घर भी आएगा

हिना बन गयी ग़ज़ल, जैसी अनमोल शायरी की किताब में तर्ज़ साहब की उम्दा ग़ज़लें, नज्में, कतआत संग्रहीत हैं। इस बेजोड़ किताब को पाने के लिये मो. ०९८९२१६५८९२ पर सम्पर्क किया जा सकता है। संभव है आपको यह अनमोल किताब प्राप्त हो जाये।■

गर्भनाल के जुलाई-२०१६ अंक में यूँ तो सभी आलेख अधिकांश आलेख पठनीय हैं, लेकिन सुधा दीक्षित का लेख विशेष प्रशंसनीय है। उस पर मैं कुछ कहना चाहूंगा। बहुत सारे विद्वानों का मानना है कि श्रीमद्वाल्मीकि रामायण भगवान् श्रीरामचंद्र के अभिषेक के साथ ही समाप्त हो जाती है। मूल ग्रन्थ में भगवती सीता के वनवास का कोई उल्लेख नहीं है। उत्तरकांड के प्रसंग किसने और कब लिखे हैं इसका कोई सबूत नहीं है। सच तो यह है कि वाल्मीकि रामायण के तथाकथित उत्तरकांड की भाषा मूल ग्रन्थ से काफी भिन्न है। मूल रामचरित मानस में भी भगवती सीता के वनवास का कोई उल्लेख नहीं है। इस स्थिति में यह कहना कि भगवती सीता का वनवास हुआ था गलत है।

एक हजार सालों से भी अधिक समय की विदेशी परतंत्रता के कारण हमारे कई ग्रंथों में अनेक अशुद्धियां समा गयी हैं। उदाहरणतः आज की त्रिपुरा-रहस्य ज्ञानखंडम् की प्रतियों में तो साफ लिखा है कि इस पुस्तक के कुछ खंड पूर्णतः नष्ट कर दिए गए थे। मनुस्मृति में भी कई अशुद्धियाँ हैं। यह सूची लंबी है। आश्चर्य की बात तो यह है कि हमारे कई ग्रन्थ विलुप्त नहीं हुए हैं। हिन्दू धर्म के तथ्यों को ठीक से प्रस्तुत करना अपने आप में एक चुनौती है जिस पर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया गया है। खास करके पश्चिम के विद्वानों और उनके भारतीय समर्थकों ने इस बात पर गहराई से ध्यान नहीं दिया है। हाल ही में Rajiv Malhotra द्वारा लिखित Academic Hinduphobia Infinity Press से छपा है। इसमें हिन्दू धर्म के बारे में पूर्वाग्रह के बारे में काफी कुछ लिखा है।

राघवेन्द्र झा, ऑस्ट्रेलिया

गर्भनाल नियमित प्राप्त होता है। अगस्त अंक 'हिंदी की उल्लेखनीय कृतियों' पर केन्द्रित किया गया है। मेरी सूची इस प्रकार होगी :

गोदान-प्रेमचंद, नदी के द्वीप-अज्ञेय, राग दरबारी–श्री लाल शुक्ल, समय सरगम- कृष्णा सोबती, अन्धा युग-धर्मवीर भारती, राम की शक्ति पूजा-निराला, आधे अधूरे-मोहन राकेश, अंतिम अरण्य- निर्मल वर्मा, मैला आंचल-रेणु। कहानियां- उदय प्रकाश की तिरिछ, संजय खाती की पिंटी का साबुन, सोबती की ए लड़की, मन्नू भंडारी की यही सच है। राजी सेठ की अपने दायरे, शिवमूर्ति की तिरिया चरित्र, हरिशंकर परसाई की भोलाराम का जीव, अमरकांत की दोपहर का भोजन, दूधनाथ सिंह की सफेद मेमने, महेन्द्र भल्ला की दूसरी पत्नी (शीर्षक शायद पत्नी है, याद नहीं)।

सुषम बेदी, अमेरिका

मेरी नज़र में हिंदी की श्रेष्ठ कृतियां यों हैं : चंद्रकांता-देवकी नंदन खत्री, भारत दुर्दशा-भारतेंदु, गोदान-प्रेमचन्द, रामकथा-फादर कामिल बुल्के, कितने पाकिस्तान-कमलेश्वर, आवारा मसीहा-विष्णु प्रभाकर, मैं मैं और केवल मैं-शरद जोशी, मैला आँचल-रेणु, गुनाहों का देवता-धर्मवीर भारती, रानी नागफनी की कहानी-हरिशंकर परसाई। उपरोक्त पुस्तकों में से मुझे धर्मवीर भारती का रूमानी उपन्यास सबसे ज्यादा पसंद हैं। इस उपन्यास में वो सब कुछ है जो आज का, कल का व आने वाले कल का युवा चाहता है। हिंदी के रूमानी उपन्यासों में यह श्रेष्ठ रचना है। सुधा व चंद्र का पवित्र प्यार आज भी दिल को सुकून देता है। पिछले दिनों इस रचना का अंग्रेजी अनुवाद भी पढ़ा, लेकिन अनुवादक विषय के साथ न्याय नहीं कर पाये। इस रचना पर फिल्म भी बानी मगर शायद चली नहीं। आज के इस आपधापी के युग में जहां शादी-विवाह-प्रेम एक नाटक बन कर रह गया है, यह उपन्यास दिल की गहराइयों को छू जाता हैं।

यशवंत कोठारी, जयपुर

ईमेल पर पत्रिका प्राप्त होती रहती है। नवोन्मेषी व्यक्ति हैं। बराबर कुछ न कुछ करते रहते हैं और नया सोचते रहते हैं। गर्भनाल की नई वेबसाइट (www.garbhanal.com) इसी का उदाहरण है।

रवींद्र अग्निहोत्री, मेरठ

www.garbhanal.com के नए रूप को देखकर प्रसन्नता हुयी, आपके अथक प्रयासों के फलस्वरूप ये उपलब्ध हो पाया है। इतनी अच्छी सामग्री और संकलन का संपादन करके सुन्दर रूप से इन्टरनेट पर पुनः उपलब्ध करने के लिए बहुत-बहुत बधाइयाँ। इस प्रकल्प को ऐसी प्रबलता से जारी रखना साधारण कार्य नहीं है। इस यज्ञ में आहुति देने के लिए समर्पण और निष्ठा की आवश्यकता है। आशा है आप इस कार्य को दृढ़ता से जारी रखेंगे और आपको सामान विचार रखने वाले सहायकों का समय-समय पर तन, मन और धन से योगदान मिलता रहेगा। 'गर्भनाल' विश्व के कोने-कोने तक पहुंचे और असंख्य पाठकों के लिए हिन्दी की महत्ता और समग्रता का निरंतर सूचक बने ऐसी मनोकामनाएं है।

उमेश ताम्बी, फ़िलेडैल्फ़िया

गर्भनाल की नई वेबसाइट देखी। मेरा केवल एक सुझाव है कि लेखकों तथा स्तंभों के नाम शब्दकोष में अक्षरों के क्रम में लिखे जाएँ तो पाठकों के लिए उन्हें खोजने में आसानी होगी।

दिनेश श्रीवास्तव, ऑस्ट्रेलिया

गर्भनाल का अगस्त विशेषांक अत्यंत सारगर्भित और स्वतन्त्र भावनाओं से ओतप्रोत है। मुखपृष्ठ पर कवि रवीन्द्रनाथ टैगोर की पँक्तियां हृदयस्पर्शी हैं। वे सब कुछ कह देती हैं। इसके अतिरिक्त बहुतेरे लेख और रचनाएं अत्यंत रोचक और प्रेरणात्मक हैं।

श्याम त्रिपाठी, हिंदी चेतना, कनाडा